

आदर्श जीवन

(क्यों और कैसे)

आदर्श जीवन

(क्यों और कैसे)

ज्वाला प्रसादभार्गव

प्रकाशक

यूनाइटेड पब्लिशर्स
१, कटरा रोड
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९७१

मूल्य २००० रु०

सादर

समर्पित है

उन माता-पिता के चरणों में
जिन्होंने मेरे जीवन को स्नेह-साँचे में ढालकर

मुझे

साहित्य और काव्य प्रेमी बनाया

उन्हीं का
“ज्वाला”

दो शब्द

कोई भी कृति हो वह विशेष रूप में देखी और समझी जा सकती है, यदि उसके रचयिता का भी परिचय प्राप्त हो। कहा जाता है कि कृतिकार अपनी कृति में प्रतिबिम्बित रहता है, कृतिकार को जानकर उसकी कृति को भली प्रकार जान सकते हैं। विपरीत इसके किसी कृति से उसके कृतिकार का भी प्रतिबिम्बात्मक बोध हो जाता है। इसी विचार से प्रस्तुत कृति के कृतिकार का संक्षिप्त परिचय उपयुक्त समझकर दिया जा रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक महादेय श्री ज्वाला प्रसाद जी भार्गव प्रयाग के एक बहुत सम्भ्रान्त धार्मिक परिवार के सुप्रतिष्ठित और सम्माननीय व्यक्ति हैं। प्रयाग के प्रमुख नागरिकों में आपका उच्च स्थान है। आपका जन्म ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी सम्बत् १९५९ (जून ९ सन १९०२ ई०) में हुआ। आपके प्रपितामह स्वर्गीय श्री शङ्करलाल जी भार्गव थे। आप बड़े धार्मिक थे। आपकी दान-वीरता आज तक प्रसिद्ध है। आपका मन्दिर, कोठी और मड़क, जिस पर यह दोनों हैं, अब भी आपके नाम से विख्यात हैं। आपके पिता स्वर्गीय श्री मङ्गल प्रसाद जी भार्गव, इलाहाबाद हाईकोर्ट के सम्मानित वकील थे। आप अंग्रेजी, हिन्दी और संस्कृत के पंडित थे। उनके ही निर्देशन में भार्गव साहव का विद्यार्थी जीवन बहुत सुव्यवस्था और समीचीनता के साथ हुआ। भार्गव जी ने अंग्रेजी और फ़ारसी की शिक्षा अपने विद्यालयी जीवन में ही प्राप्त की किन्तु उनको संस्कृत तथा हिन्दी के प्रति अध्ययन का आधार और रुचि अपने पूज्य पिता जी से ही मिला। सन् १९२२ ई० में आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से स्नातक अथवा बी० ए० की परीक्षा और सन् १९२४ ई० में न्याय अथवा “ला” की परीक्षा पास की। आप स्वर्गीय पं० उमाशङ्कर जी बाजपेयी (जो बाद में न्यायाधीश भी हो गए थे) के निर्देशन में वकालत शुरू की—वर्तमान उपराष्ट्रपति श्री गोपाल स्वर्ण पाठक भी बरेली में १० वर्ष वकालत करके सन् १९२८ ई० में जब उक्त बाजपेयी जी के साथ काम करने के लिए आये तब भार्गव जी दो वर्ष हाईकोर्ट में वकालत कर चुके थे एवं जूनियर वकीलों में दक्षता प्राप्त कर चुके थे। वे और श्री पाठक जी साथ-ही-साथ कुछ समय तक कार्य करते रहे। सन् १९३६ ई० में पिता जी के देहावसान के पश्चात् अस्वस्थ रहने के कारण आपने वकालत करना छोड़ दिया।

भार्गव जी का विवाह भी एक बहुत ऊँचे परिवार में सन् १९१५ ई० में वाराणसी में हुआ। सन् १९५३ ई० में आपकी धर्मपत्नी भी, जो बहुत देवी रूप थीं आपको सदा के लिए अकेला छोड़कर स्वर्ग चली गईं। एक प्रकार से विरक्ति भाव रखते हुए केवल साहित्यानुशीलन में ही आप अपने को व्यस्त रखने लगे।

आपमें गुणग्राहकता, शील, सौजन्य, जैसे स्पृहणीय-श्लाघ्य गुण हैं। नम्रता, प्रसन्नता, सत्संग-प्रियता आपकी सराहनीय है। वचन-रचना चातुरी और गिरा-माधुरी के साथ आपका आकर्षक सव्यवहार बिना आकर्षित किये किसी को नहीं रह सकता। वे सब के साथ शीलपूर्वक स्नेह निभाते हैं।

साहित्यानुशीलन करते हुए आपने उर्दू और अंग्रेजी भाषा के काव्यों से बहुत ही रुचि-रोचक रत्न चुनकर एकत्रित किए हैं। प्रेम, सौन्दर्य, नेत्र, जीवन, मृत्यु, पाप, पुण्य, गुल-बुलबुल, दीपक-पतंग, आदि के सम्बन्ध में उर्दू-शायरों की बहुत सुन्दर-सुन्दर उक्तियाँ आपने एकत्रित की हैं और उनकी आलोचना एक ऊँचे आलोचक की दृष्टि से की है। इसी प्रकार विभिन्न विषयों पर हिन्दी अंग्रेजी में बहुत उच्च कोटि के निबन्ध भी लिखे हैं।

भार्गव जी में कीर्तिलोत्पत्ता नहीं है। इसीलिए उनकी सुकृतियाँ अब तक अप्रकाशित हैं। यदि वे प्रकाशित हो जाँय और आशा है वे शीघ्र प्रकाशित होंगी तो साहित्य को अच्छा लाभ होगा।

भार्गव जी में देश और समाज का भी अच्छा अनुराग है। जातीय और सामाजिक उन्नति के कार्यों में भी आपने बहुत योग दिया है और देते हैं। आपका सम्बन्ध प्रमुख नेताओं और समाज सुधारकों से बराबर रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक आपके सामने है। अब आप उससे देखें कि उससे मिलता हुआ प्रतिबिम्ब हमारे उक्त कथनों को स्पष्ट करता है या नहीं? हमें उसकी यहाँ विवेचना-आलोचना नहीं करनी है। सुयोग्य-सहृदय सज्जन पाठक ही इसका अधिकार रखते हैं। हमें तो यह आशा है कि पुस्तक अपने ढंग की अपूर्व है और इससे साहित्य की वृद्धि ही होती है। हम चाहते हैं कि भार्गव जी की अन्य कृतियाँ और विषेष रूप से उनके हृदयस्पर्शी काव्य संग्रह भी शीघ्र प्रकाशित हों। हमारी मङ्गल कामना है कि उनकी कृतियाँ प्रकाश में आकर लोक-प्रिय हों, मुजन-प्रिय हों।

एवमस्तु

चैत्र शुक्ल १ संवत् २०२८

बुधजनकृपाकांक्षी
राम चन्द्र शुक्ल “सरस”
प्रतिभा-मण्डल, प्रयाग

विषय-सूची

प्रस्तावना	७
माँ	११
पति-पत्नी	१६
भारतीय स्त्री जीवन	३०
प्रार्थना	३७
धार्मिक शिक्षा	४३
मानव-धर्म	५२
मानव और विज्ञान	६१

प्रस्तावना

हमारा भारतवर्ष प्राचीन सभ्यता एवं श्रेष्ठता की जननी है। मनुष्य जीवन के वास्तविक अभिप्राय व ध्येय को सर्वाङ्गतया किसी अन्य देश ने नहीं समझा। यहीं से ज्ञान का सर्वप्रथम प्रभात हुआ, यहीं के तपोवनों से ज्ञान, धर्म व नीति का प्रादुर्भाव हुआ एवं संसार भर को सच्ची शान्ति का अनुभव प्राप्त हुआ। सब संस्कृतियों के समन्वय का प्रथम प्रयोग ईश्वर ने भारतवर्ष में ही किया था।

भारतवर्ष की महानता का सच्चा रहस्य था—मानव धर्म और परिवार की व्यवस्था। कहा जा सकता है कि अपने भारतवर्ष में तीन तरह के साधन रहे—अपना निज का साधन (व्यक्तिगत), अपने घर का साधन (पारिवारिक) और अपनी जाति का साधन (सामाजिक)।

व्यक्तिगत साधन की विशेषता—वीर्यव्रत धारी होना, ब्रह्मचर्य (ब्रह्मे आचरति इति—ब्रह्म में विचरण करना) एवं स्वाध्याय; इसी के द्वारा तन और मन के ऊपर नियंत्रण करके ही मनुष्य ऊँचे ध्येय को प्राप्त कर सकता है।

घर के वातावरण को शुद्ध बनाने के लिये—माता-पिता में परमेश्वर का दर्शन करना, भाई-बहिनों का परस्पर पवित्र प्रेम-भाव और पति-पत्नी का अपनी आत्मा को एकाकार कर देने का उत्कृष्ट आदर्श था। पति-पत्नी में धर्म पर आधारित वैवाहिक गठ-बन्धन के प्रति अटूट आस्था भारतीय परिवार की विशेषता थी। भारतीय नारी का पतिव्रत धर्म और पुरुषों द्वारा स्त्री को सहधर्मिणी एवं अर्द्धाङ्गिणी स्वीकार करना भारत की अभूतपूर्व विशेषता रही है। अगर घर का वातावरण किसी भी प्रकार से दूषित रह गया तो कोई व्यक्ति ऊँचा नहीं उठ सकता। न उसे दैनिक जीवन में शान्ति मिल सकती है और न उसे अनन्त जीवन में सहारे के लिये आत्मबल ही प्राप्त हो सकता है।

व्यक्तित्व कहीं से मिलता नहीं है, व्यक्तित्व तो अपने चरित्र से ही बनता है। शुद्ध अन्तःकरण की प्रवृत्ति—जिसमें लज्जा, भय, शंका का लवलेख मात्र अंश न हो—ईश्वर में सच्चा प्रेम व उनकी भक्ति,

साथ ही साथ सीधा-सादा जीवन, उच्च विचार, सबके साथ सहानुभूति, करुणा, मुदिता, मैत्री ये सब चरित्र के अंग हैं जिनके बिना व्यक्तित्व का सुन्दर गठन नहीं हो पाता ।

इन्हीं संस्कृति को लेकर ही भारतवासियों ने सर्वाङ्गतया सिद्धि प्राप्त की थी । आजकल हम इन सिद्धान्तों को अपनी कुरीतियों से पंगु एवं निष्प्राण बनाये हुए हैं । अपनी सभ्यता में जितनी श्रेष्ठताएँ थीं सब गवाँ बैठे हैं । न तो अपना निज का कोई साधन रहा, न अपने नवयुवकों में माता-पिता के प्रति वह भावनायें रहीं, न भाई-बहिनों में वह प्रेम ही, न पति-पत्नी के अलौकिक सम्बन्ध का वह आदर्श ही रहा ।

सम्मिलित परिवार की प्रथा का अब बिल्कुल अभाव हो गया है । जहाँ व्याह हुआ तहाँ अपने-अपने का ख्याल रहता है । हम दाम्पत्य प्रेम और घरों में विभक्त पारिवारिक जीवन को ज़रूरत से ज्यादा महत्त्व देने लगे हैं और अपने असली बड़े परिवार को और उस सामाजिक जीवन को भूल गये हैं जिसकी पसलियों के भीतर हमारे गृहस्थ जीवन का हृदय धड़कता है, जहाँ से उसकी नाड़ियों में रक्त प्राण का संचार होता है ।

समाज के बन्धन तो और भी ढीले पड़ गये हैं । जाति का नाम लेना अब लज्जा का विषय है । जाति के व्यक्तियों का रहन-सहन, बोल-चाल, चाल-चलन, खान-पान, पहनाव-ओढ़ाव, परस्पर व्यवहार, रीति-रस्म सब विकृत होता जा रहा है । इन सब बन्धनों से व्यक्ति एक ढर्रे पर या एक साँचे में ढला हुआ रहता था और विचलित होने की सम्भावना कम रहती थी ।

आजकल के नवयुवक प्राचीन आदर्शों को समझ नहीं पा रहे हैं । न उनके सामने कोई आदर्श ही है । हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति में ऐसा कुछ भी तो नहीं है कि बालकों और युवकों के सामने कोई अनुकरणीय आदर्श उपस्थित हो । समाज और शिक्षा में समन्वय नहीं है ।

घर-घर में प्रायः निजी कठिनाइयों के कारण इतना शुद्ध वातावरण नहीं मिल पाता । व्यग्रचित्त माता-पिता को इतना अवकाश नहीं मिलता कि अपने बाल-बच्चों की देख-रेख कर सकें । फलस्वरूप बालकों को न तो धर्म की कोई शिक्षा मिलती है, न अनुशासन की और न ही अपने बड़ों के प्रति शिष्ट व्यवहार की न तो उनके ऊपर कोई शासन रह जाता है और न कोई अंकुश । जिसकी वजह से उनकी आँखों की शर्म भी जाती रहती है । और यही कारण है कि आजकल अर्ध-परिपक्व बुद्धि वाले नवयुवकों को उनकी

मनमानी उच्छृङ्खलता से पृथक् रखना असम्भव-सा हो रहा है । समाज के अग्रणी, कर्णधार एवं उत्तरदायी व्यक्तियों में भी सामाजिक आदर्शों के प्रति आस्था का अभाव एवं उपेक्षा भी उतनी ही व्याप्त है ।

आजकल छात्र-अनुशासन-हीनता एक ऐसी समस्या का द्योतक है जिसे, उत्तरदायी भारतीय नागरिक, देश की एक प्रमुख समस्या मानते हैं । अपने दृष्टिकोण के नवीनता के कारण, अल्प-वयस्क अपनी दुष्टा वृत्तियों के कारण संकटों में फँस कर अपने अभिभावकों के लिये चिन्ता और भय के कारण बन जाते हैं । वे अपनी शैक्षणिक प्रभावों और परम्पराओं को अपमानित कर ऐसे समाज-विरोधी परिहास में संलग्न हो जाते हैं जिसका परिणाम दुःखदायी और दुर्भाग्यपूर्ण होता है । युवक की तरुणार्ई सदा से एक ज्वाला की तरह रही है और आगे भी रहेगी । इसे बुझाया नहीं जा सकता । प्रश्न इतना है कि यह प्रकाश देगी या ताप । हम इसे प्रकाश के रूप में कैसे परिवर्तित करें यह सोचना है । एक सन्तुलित निर्णय देने के उद्देश्य से यह अति आवश्यक है कि उनकी समस्याओं पर अधिक आत्मीयता से विचार किया जाये ।

यदि देश की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति को आधुनिकता के आक्रमणों से बचाना है तो सारा व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण बदलना होगा । जमाना अपनी तीव्र गति से आगे बढ़ रहा है । इस प्रवाह से यदि अपने को सुरक्षित रखना है तो अपने बड़े और छोटे, सब लोग, दृढ़ विचार तथा निश्चय करें कि उनके लिये क्या रास्ता ठीक है । नहीं तो कटी पतंग की तरह हर हवा के झोंके के साथ, ऊँची उड़ान के बाद भी ज़मीन पर गिर कर नष्ट हो जावेंगे ।

यदि इन लेखों से पाठकों के मन में उद्दान्त भावनाओं का संचार हो तथा उनमें भारतीय संस्कृति के प्रति आदर भाव तथा प्रेम जागृत हो तो लेखक को कुछ संतोष एवं प्रसन्नता होगी ।

वसन्त पञ्चमी, सम्बत् २०२७

मङ्गल भवन
शङ्करलाल भार्गव रोड
प्रयाग

विद्वज्जन कृपाकांक्षी
ज्वाला प्रसाद भार्गव

माँ

चेतन-जगत् की प्रवृत्ति चेतन-श्रेष्ठ मनुष्य को उत्पन्न करने की ओर रही है। सृष्टि रचना का विकास-क्रम यहीं आकर समाप्त हुआ। मनुष्य ही सृष्टि-रचना-कला की सर्वाङ्गपूर्ण वस्तु है। ईश्वर ने इसे अपनी मूर्ति का ही प्रतीक बनाया है। वही उसकी सर्वश्रेष्ठ विभूति है। वेद, उपनिषद्, पुराण और गीता सबने इसी की महिमा और दिव्यता का बखान किया है और इसी की विशेष बुद्धि क्षमता और कर्तव्य शक्ति की बड़ी प्रशंसा की है। इस मानव तन से देवताओं तक को भी ईर्ष्या हुई और वह यह चाहने लगे कि हमें मनुष्य तन प्राप्त हो जिसमें हम साधन और कर्म के द्वारा वह सिद्धि प्राप्त करें जिससे चिरन्तन अमरत्व और परब्रह्म से पूर्ण सायुज्य को पा सकें।

मनुष्य जीवन का यदि यही अभिप्राय है और यही आदर्श है तो उन माता-पिता को करोड़ों धन्यवाद है जिन्होंने अपने आपस के पवित्र प्रेम से हमें जीवन ऐसा महान् दान देकर और जीवात्मा को इस पार्थिव शरीर में बुला कर इस रहस्यमय जीवन में अपना भार-वहन करने के काम पर नियुक्त किया। मानव-जीवन का सर्वश्रेष्ठ यदि किसी को पूर्ण रूप से है तो अखिल-सृष्टि रचयिता के पश्चात् उस जननी को है जो अपने जीवन के सार-तत्त्व से मनुष्य को पोषित कर वास्तविक मनुष्य रूप में विकसित होने का पुनीत कार्य करती है। माता-पिता की गोद में सम्पूर्ण जगत् फलता-फूलता है और माता के तप और त्याग से सृष्टि का अस्तित्व है। मातृ शक्ति ही वह जनन-शक्ति है जिसने विकराल काल के संहार शक्ति को भी चुनौती दी है। और उसे भी निःसार-सा कर दिया है। सृष्टि के किसी कोने में

काल किसी को मार गिराता है तो दूसरे कोने में कोई माता किसी शिशु को जन्म दे देती है ।

इसलिए जगत् में मातृ-शक्ति ही सबसे प्रबल, भावमयी, प्रथम, आदर व पूजा की वस्तु मानी गई है और शास्त्रों में माता को ही सबसे पहिला स्थान दिया गया है । वेद का परममंत्र है—

“मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव ।”
स्मृति का वचन है—

“उपाध्यायेन दशाचार्याचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितृन माता गौरवेणातिरिच्यते ॥”

अर्थात् एक आचार्य गौरव में दश उपाध्यायों से बढ़ कर है—एक पिता सौ आचार्यों से उत्तम है एवं एक माता सहस्र पिताओं से श्रेष्ठ है ।

माँ की महिमा और श्रेष्ठता का एक ज्वलन्त उदाहरण यह भी है कि भगवान राम ने अपनी माँ कौशल्या को ही अपना अद्भुत और विराट रूप दिखाया, पिता दशरथ को नहीं ।

यदि पृथ्वी पर कोई ऐसी वस्तु है जो ईश्वर की असीम कृपा, दया, क्षमा, और वात्सल्य के प्रेम का बोध कराती है तो वह है—‘माँ’ । वास्तव में इस कठोर संसार में यह सब भाव अति दुर्लभ होते जाते हैं पर किसी से भी यदि हमें यह प्राप्त होते हैं तो उस व्यक्ति को ईश्वर का एक लघु रूप ही समझना चाहिए । फिर माता का हृदय तो स्नेह, दया, क्षमा और त्याग का भण्डार है । पिता के हृदय से कहीं अधिक माता का हृदय ममतामय और वात्सल्य पूर्ण होता है । भगवान् श्रीराम को भी माता से बढ़ कर भक्तों के प्रति वात्सल्य की दूसरी उपमा नहीं मिली — तुलसीकृत रामायण में उनका वचन है—

करहुँ सदा तिनकी रखवारी; जिमि बालक पालहिं महतारी ॥

हम भी जब सीधे-सादे भावों से परमात्मा को याद करते हैं तो ऐसे ही याद करते हैं :—

“त्वमेव माता च पिता त्वमेव”

‘म’ वर्ण का ही अर्थ है ‘श्री’ । यहूदियों में एक सुभाषित ऐसा है कि भगवान् सब जगह और सब समय और सबके सामने प्रकट नहीं हो सकते, इसीलिए उन्होंने माता-पिता ऐसे रिश्ते को बनाया है कि उनके द्वारा प्राणिमात्र उनको जान सके तथा समझ सके ।

“माँ” शब्द में ही कितनी मधुरता एवं पवित्रता है । बालक सबसे पहले जिस शब्द का उच्चारण करता है—वह माँ का ही होता है । बालक के कोमलतम और उच्चतम विचार वहीं केन्द्रित हैं । माँ की कोमल गोद ही बच्चे की सारी दुनिया है । माँ ही केवल उसका एक सहारा है । “माँ” शब्द के करुण-पुकार ही से बालक मानो सारी सृष्टि की ताकत अपने हृदय में ले आता है । बच्चा धन-दौलत कुछ नहीं जानता—वह जानता है माँ के नाम की रट को, माँ की गोद को, माँ के आँचल को, माँ के सुधा-सम पय को—बस उसे और क्या चाहिए । चाहे दुनिया की समस्त कीमती चीजें उसको दे दी जावें पर वह माँ से अलग न होगा । उसका पल्ला न छोड़ेगा । बालक के हृदय में माँ के प्रति कितने गजब का विश्वास, कितने गजब की आशा पूर्ति का भाव होता है । माता का ही वह प्रेम है कि जो गिरा-हीन या सुप्त-वाक् शक्ति वाले की व्यथा को समझ पाती है । वही जान सकती है कि बच्चे का आँसू उसके हृदय के किस कोने से निकला है । वही प्यार से, चुमकार से अथवा थपथपाकर उसे तुरन्त चुप कराती है और उसके बिगड़े हुए भाव या चित्तवृत्तियों (Mood) को ठीक कर देती है । और उसे क्षण-क्षण में शान्ति का अनुभव कराती है । ऐसा जान पड़ता है और ठीक ही जान पड़ता है कि मातृ-पुत्र-भाव ही मानव-जन्म से प्रारम्भ होने वाला आदि भाव है । इसी को वात्सल्य कहते हैं । यह विकसित होकर रूपान्तर के साथ मानव-जीवन-व्यापी भाव बनता है । इसी में सभी रसों के सभी भाव निहित से होते जाते हैं । यही वात्सल्य भाव ही मानव के अन्तःस्थल के कोमल स्थल को जाग्रत करने का सरल उपाय है । अबोध बालक के अनवद्य, सौष्ठव के दर्शन, नवनीत

तुल्य पेशलगात के स्पर्श, अस्पष्ट और तोतली वाणी के श्रवण तथा कौतूहलपूर्ण, यथासम्भव, प्रोढ़ भाषण और अहेतुक हास से गुदगुदी, माता-पिता के हृदय में उठती है और कण्ठ गद्गद् हो जाता है तथा अन्तःस्तल पिघल उठता है। यह रसानुभूति ही मानो आत्मानुभूति है। इसी आशय के आधार पर महात्मा ईसा वालकों को ईश्वर का रूप मानते थे। कौशल्या, देवकी और यशोदा, दशरथ, वसुदेव और नन्द आदि ने वात्सल्य भक्ति द्वारा पुत्र रूप में भगवान् को हृदय से लगाया था। किन्तु बालक की समस्त चेष्टायें जितनी आनन्ददायक माता-पिता के लिए होती हैं उतनी किसी अन्य के लिए नहीं। तथापि यह कह सकते हैं कि यदि कहीं हृदय होगा तो वह भी इस वात्सल्य अनुभूति के निकटतम अनुभूति अवश्य कर सकता है और करता भी है।

गर्भ से ही बालक के साथ माता का अत्यन्त निकट सम्बन्ध होता है। और उसके जन्म के बाद इस जीवन के सबसे पहले और सबसे महत्त्वपूर्ण पाठ का काम माता को ही करना पड़ता है। जन्म के साथ ही पहले क्षणों से ही बच्चे के हृदय में प्रेम ऐसे महान् शक्ति का अंकुर भी जम जाता है। वह होता है स्नेहमयी माता के प्रति प्रेम। बड़े होने पर वह प्रेम की ज्योति फैलती जाती है। और माता के द्वारा ही बच्चा अपने पिता को, भाई-बहनों को ही नहीं, समस्त जगत् को जानने लगता है और वही अगाध प्रेम के बदौलत परमपिता परमेश्वर तक को पहचानता है। इस तरह आरम्भ से ही उसकी बुद्धि (Intellect) और भाव (Emotion) पर माता का गहरा असर पड़ता है और उसकी आत्मा का विकास होता है।

शिक्षातत्त्वविदों की इस विषय में एक राय है कि मनुष्य जीवन के पहले सात वर्ष में बालक के भावी व्यक्तित्व की अच्छी या बुरी नींव पड़ती है। इन्हीं वर्षों में बालक के कोमल ढाँचे में जो संस्कार जमते हैं वे ही सदा के लिए जम जाते हैं। वे संस्कार यदि अच्छे हुए तो उन्नति के कारण होते हैं; बुरे हुए तो उन्नति में बाधक होते हैं। जिन बच्चों को माता का अगाध प्रेम मिलता है (ऐसा प्रेम नहीं जो

बच्चे को जिद्दी या मनमाना बना दे या उसमें स्वार्थ, अहंकार या घमण्ड का बीज बो दे बल्कि वह प्रेम जो उसके संसार को जीवन भर के लिए सजा दे और उसके भावों को विश्वास, आशा और दया से इतना रचपचा दे कि बड़ा होने पर शुद्ध वातावरण पाकर वह सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का अनुभव करने लगे) उन्हीं का जीवन सफल और सुखी होता है। और जिस अनुपात में बच्चा अपने माता-पिता के प्रति जितनी ऊँची या जितनी गहराई की भावना रखता है उसी अनुपात में वह अपने जीवन को महान् और परमोपयोगी बनाता है और जो उसकी जितनी अवहेलना करता है उतना ही अपना लोक व परलोक दोनों बिगाड़ता है। इसी तरह से इन्हीं वर्षों में बालक के जीवन का अन्तःपट तैयार होता है और उसके तैयार करने में माता-पिता का, विशेष करके माता का ही, सबसे प्रधान भाग रहता है। यह कार्य शाब्दिक उपदेशों, धमकियों और आदेशों से उतना नहीं जितना माता के केवल रुख, स्वर और मुखाकृति और सहज-संकेतों से उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म भावों से हुआ करता है। बच्चा जितना छोटा होता है उतना ही माता उसका अधिक लाड़-प्यार करती है और उतना ही अधिक उस पर मनोभाव को व्यक्त करने वाले इस सहज प्राकृत ढंग का प्रभाव पड़ता है। माता-पिता बच्चों की ओर देखते हुए जिस मनोभाव का परिचय इस रीति से देते हैं केवल उसी से नहीं, बल्कि वे परस्पर औरों के साथ जिस तरह पेश आते हैं उससे भी बच्चे इन संस्कारों को ग्रहण करते हैं। यह काम इतने अज्ञात रूप में होता है कि माता-पिता को इसकी कोई सुध नहीं होती। वे समझते हैं बच्चे खेल रहे हैं, भूल रहे हैं या अपनी ही किसी मौज में मगन हैं, पर इसी अवस्था में उनके कोमल अन्तःकरण ऐसे संस्कार ग्रहण करते हैं जो सदा के लिए अमिट हो जाते हैं।

स्त्री जाति में प्रत्येक अवस्था में मातृत्व का अंश रहता है—“पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्नाः” न्याय से पुरुषों के भिन्न-भिन्न अनेक आदर्श हो सकते हैं पर स्त्री के लिये दो ही आदर्श हैं—पत्नित्व और मातृत्व। पत्नित्व एक साधन है मातृत्व प्राप्त करने के लिए,

मातृत्व में ही उसके जीवन की परिपूर्णता है। इन्हीं आदर्शों को लेकर स्त्रीमात्र अपने जीवन को परमोपयोगी और महामहिम बना सकती है। मातृत्व का ही अंश उनमें अपना आपा नष्ट करके त्याग और स्नेह को प्रेरित करता है। सेवा-सुश्रुषा करना, घाव भरना, दुःख, खेद और नैराश्य को दूर करना, सुख, सन्तोष और प्रसन्नता को लाना और घोर आपत्ति में ईश्वर शक्ति को अपनी ओर खींचना सिखाता है। और इसी से सदैव मानव जाति पर उसकी दिग्विजय इतनी सरल और दृढ़ होती है और वे नित्य के क्षण विध्वंसी जीवन में ही नहीं, बल्कि त्रिकालव्यापी अनन्त जीवन में शान्ति प्रदान करती हैं। स्त्री है अखिल मानव जाति की जननी, इसलिए उसकी पवित्रता और गौरव महिमा स्वतः सिद्ध है। हमारे शास्त्र उसे शक्ति, लक्ष्मी, सरस्वती और अन्नपूर्णा की ही जीती-जागती प्रतिमा बतलाते हैं। वास्तव में यदि यह कहा जाय तो मातृत्व भावना ही वस्तुतः आत्माभिव्यक्ति की भावना है। माता और पिता दोनों के प्रेम-ऐक्य की अभिव्यक्ति के रूप में ही पुत्र आता है। शरीर उसका भले ही मातृ शरीरांश भूत, पंच-भूतों से बना हो, आत्मा उसकी, पिता की आत्मा का रूप है। इसी से उसे आत्मज कहा जाता है।

‘माँ’ शब्द का प्रयोग हम उन वस्तुओं के लिए करते हैं जिनको हम जीवन में सर्वाधिक प्रेम व आदर करते हैं—उदाहरण के लिए जैसे पृथ्वी को माता, अपने जन्म देश को मातृभूमि, अपनी भाषा को मातृभाषा, गौ को गौमाता इत्यादि। घोर आपत्ति के समय भी हमारे अन्तःकरण से ‘माँ’ का शब्द ही निकलता है। जगद्गुरु शंकराचार्य जी ने कितना ठीक कहा है कि, “कुपुत्रो जायेत क्वचिद-पिकुमाता न भवति”।

“कैसहु पूत होय अनियारी। तदपि न कृपा तजति महतारी ॥”

— तुलसी

इसलिए जीवन में माता का और उसके प्रेम का प्रभाव इतना अधिक पड़ता है कि इस विषय में जितना कहा जाय थोड़ा है।

माता-पिता की सेवा करना, उनकी आज्ञा का पालन करना, पुत्र का नैतिक कर्त्तव्य है। रामायण में तुलसीदासजी ने कहा है—

“मातु पिता गुरु प्रभु की बानी, विनहिं विचार करिय शुभ जानी ॥”

धर्म के अवतार श्री रामचन्द्रजी का एक महान् आदर्श था—

“प्रात होत उठि के रघुनाथा, नावहिं मातु पिता गुरु माथा ।”

वास्तव में प्रतिदिन के जीवन में हमें माता-पिता के गुणों की याद और उनकी पूजा करनी चाहिए। माता-पिता के प्रति श्रद्धा और सन्मान के भाव से सेवा, सत्य और धर्म की प्रतिष्ठा होती है। इन्हें परमेश्वर के समान मान कर भक्ति और श्रद्धा से इनकी आज्ञा पालन करना, विनय पूर्वक इन्हें प्रसन्न करना और इनकी सेवा करते रहना हमारा परम कर्त्तव्य है। माता-पिता की सम्मति से चलने वाला सन्तान सदा सुखी और भाग्यशाली रहता है।

भगवान् श्री राम ने कितने महत्त्वपूर्ण शब्दों में कहा है—

“सुनु जननी सोई सुत वड़भागी,
जो पितु मातु वचन अनुरागी ॥”

“तनय मातु पितु पोषनि हारा,
दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥”

+

“धन्य जन्म जग शीतल तासू,
पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू ॥
चारि पदारथ कर तल ताके ।
प्रिय पितु मातु प्राण सम जाके ॥”

किसी कवि ने कितना सुन्दर कहा है—

“जिन सेवा किए पितु मातुन की,
उन साधन और किए न किए ।”

श्रवणकुमार ने माता-पिता की सेवा में अक्षय कीर्ति प्राप्त की

थी । अपने भारत में भीष्म पितामह, पुण्डरीक आदि के पितृ-भक्ति की कितनी ही आदर्श कथाएँ हैं । वास्तव में जिससे देव-पितृ सन्तुष्ट हों उन्हें और चाहिए ही क्या ?

क्या ही अच्छा होता जो अपनी एक जीवन संगिनी छोड़कर अन्य समस्त स्त्रियों को हम “माँ” का ही रूप मानें और उनका ऐसा आदर करें । ऐसा करने में शायद अपने देश की और कलिकाल की बहुत सी समस्याएँ हल हो जायें ।

जहाँ अप्रीतम प्रेम की धार ।
दया का जिसमें पारिवार ॥
निष्ठावर उस पर तन-मन-धन ।
वही है मञ्जुल माँ का मन ॥

+ + +

प्राप्त करने को जिसका प्यार ।
लिया जग नायक ने अवतार ॥
जहाँ फिर खोया अपना-पन ।
वही है मञ्जुल माँ का मन ॥

पति--पत्नी

स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहिन, देवर-भौजाई, पिता-पुत्री इत्यादि अनेक प्रकार के हैं। यह सर्वविदित ही है कि शास्त्रों में माता को ही सबसे ऊँचा स्थान दिया गया है उसकी पवित्रता, पूज्यता और गौरव गरिमा स्वतः सिद्ध है। स्त्री पुरुषों के सब सम्बन्धों में भाई-बहिन का सम्बन्ध शुद्ध सात्विक प्रेम और समानता के उल्लास का होता है।

पुरुष मात्र के लिए संसार में चार आकर्षण प्रधान हैं—धन, विद्या (ज्ञान), शक्ति (बल का अधिकार) और स्त्री। सृष्टि के प्रारम्भ से ही इन चारों में सबसे प्रधान आकर्षण स्त्री का ही रहा है। धन के विषय में निर्लोभी होना कठिन है, वर्तमान की अपेक्षा अधिक विद्वान्, ज्ञानवान्, पावन जो बनना न चाहता हो ऐसा मनुष्य भी होना कठिन है, प्राप्त अधिकार का त्याग करना या प्राप्त हो सकने वाले अधिकार की इच्छा न करना भी कठिन है। पर उतना कठिन नहीं, उतना दुर्लभ भी नहीं जितना कि स्त्री के विषय में विरक्त होना। बड़े-बड़े मुनियों व तपस्वियों को भी स्त्रियों के सामने डिगना पड़ा है। स्त्री-पुरुष का यह परस्पर आकर्षण सबसे महान् क्रम है। इसी आकर्षण तत्त्व को प्रेम कहते हैं। यही सृष्टि का चमत्कार है। यही प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है और इसी से सारा विस्तार है।

माता-पिता के लालन-पालन, रक्षण व पथ-प्रदर्शन से जो हमें प्राप्त होता है उसके ही सहारे जीवन नैया बहुत दूर तक खेई जा सकती है। पर मनुष्य मर्त्य है, माता-पिता सदा साथ नहीं रहते।

इसलिए जीवन में फिर एक-दूसरे प्रेम की शक्ति का आवाहन आवश्यक होता है, जिसका भी प्रभाव जीवन पर वैसा ही उपकारक हो। जब मनुष्य बालिग होता है तब उसका हृदय किसी दूसरे हृदय के साथ अभेद सम्बन्ध जोड़ने को तरसता है। जिसका उसके साथ मेल हो, जिसके साथ वह प्रेम कर सके, जिसके सामने वह अपने जी को खोल कर रख सके, जिसे वह अपना और अपने को उसका बना सके, जो सुख-दुःख में जीवन के सब अनुभवों में उसका चिरसंगी हो। इसी सम्बन्ध की प्रारम्भिक विधि को विवाह कहते हैं। महाभारत में एक सुन्दर कथा है—एक ब्राह्मण से जब उसके पितरों ने वंश विस्तार के लिए विवाह करने का आग्रह किया तब उसने कहा कि मेरी जैसी ही (यानी मेरे स्वभाव कार्य और लक्ष्य में जो खप जाय, मेरे साथ एक ही हो जाय ऐसी) जो वधू मिलेगी तो मैं उसके साथ विवाह करूँगा। आदर्श विवाह का यही लक्षण है, हिन्दू आदर्श यही है।

पता नहीं कब से और पता नहीं कब तक हर कुमारी के जीवन में यह दिन आता रहा है और आता रहेगा कि विवाह के पश्चात् वह अपने माता-पिता, भाई-बहिनों को छोड़ कर एक नितान्त अपरिचित व्यक्ति के घर जाती है। माँ-बाप-बहिन से विछुड़ने का कष्ट, अनिश्चित भविष्य की कल्पना, नये वातावरण, निपट परायों में रहना, एक लाज शर्म से डूबी नव वधू को कितना परेशान व व्यग्रचित्त किए रहती है। फिर भी यह एक श्रेष्ठ स्त्री की विलक्षणता व विशेषता है कि वह इस नए वातावरण से समझौता, पति से आत्मीयता का समझौता, उसकी अच्छी-बुरी आदतों व स्वभाव से समझौता, पति के कुटुम्बियों से समझौता, ऐसी विचित्र जिम्मेदारी तथा अपने दायित्व को कितने उत्तम तरीके से निभाती है। वे सम्पूर्ण निष्ठसेवा, भक्ति और हृदय से इस नए घर को अपना समझती है। वहाँ के सुख-दुःख, मान-मर्यादा को अपना सुख-दुःख व मान-मर्यादा समझती है एवं अपने प्रति सवमें श्रद्धा और अपनत्व का भाव जगाती है। कैसा सच्चा आत्मसमर्पण व पूर्ण वलिदान है यह ? अपने पति के घर में वह ऐसा घुल-मिल जाती है कि कुछ

दिनों में ही गृहस्वामिनी व गृहलक्ष्मी बन जाती है। ऐसी गृहिणी छाया की तरह छिपने वाली नहीं बल्कि अपने समीप आने वाले सब व्यक्ति को व प्रत्येक पदार्थ को प्रकाशित करने वाली अपने रंग में रंग देने वाली और ऊपर उठाने वाली हो जाती है।

विवाह जब तक नहीं होता तब तक जीवन आधा इधर और आधा उधर बँटा हुआ होता है। शास्त्रों के अनुसार विवाह वह संस्कार है जो दो अधूरों को जीवन भर के लिए ही नहीं जन्म जन्मान्तर के लिए मिला देता है। दोनों दो हृदय हों पर एक जान हो जाते हैं। विवाह की सरल स्वाभाविक प्रथा तो एक दूसरे को चुन लेना है, पर कठिनाई यह है कि यौवन काल में खास कर इस कलिकाल में नेत्र कामान्ध होते हैं। युवक-युवतियों का प्रेम उनके हृदय में नहीं बल्कि उनके नज़रों में रहता है। इसलिए इस प्रथा से यह आशंका होती है कि ऐसा विवाह काममूलक होने से अन्त में कहीं दुःख का कारण न बन बैठे।

इसलिए माता-पिता शील-कुशील की परीक्षा करके लड़के-लड़कियों का विवाह करा देते हैं। फिर यह दम्पति का अपना-अपना कर्तव्य है कि वे अपनी साधना से एक-दूसरे को ऐसा बना लें कि पार्थक्य न रहे और जीवन एक मधुर एकत्व में परिणित हो जाये। इस मिलन का अर्थ भोग या इन्द्रिय-तृप्ति नहीं, किन्तु यज्ञ है। काम का उद्वेग होने के पहले ही विवाह का हो जाना अति आवश्यक है। वैदिक-काल में समाज में कुमारियों के सुरक्षित रहने के लिये ही आदेश नहीं थे, कुमारों के लिए भी वीर्यव्रतधारी होने का और ब्रह्मचर्य पालन करने का उत्कृष्ट आदर्श था। ऐसे पवित्र विवाहों से ही, गर्भ से ही, भावी सन्तान के संस्कारों की नींव दृढ़ होती थी और समाज श्रेष्ठतम समृद्ध और बलशाली होता था। यही कई कारणों में एक कारण था कि आर्य-पुत्रों ने मनुष्य जीवन के वास्तविक अभिप्राय, ध्येय को सर्वाङ्गतया समझा था और इसी से हमारी मातृभूमि भारतवर्ष ही जगत् के सभ्यता की जननी रही है।

नारी को यदि वास्तविक रूप में देखा जाय तो ज्ञात होता है कि यह एक विशेष शक्ति है, इसीलिए मानव-शक्ति के जितने प्रमुख रूप हैं वे सब स्त्रीवाची हैं—चाहे बुद्धि हो, मति हो, गति हो, विद्या हो, भक्ति हो, अनुरक्ति हो, विरक्ति हो, कुछ हो, है वह स्त्रीवाची । शक्ति पहले है और शक्तिमान् उसके पश्चात् । इसी विचार से भारतीय-धर्म में स्त्री प्रथम आती है । दैवी शक्ति की कल्पना में भी यही बात है । भगवान् भी अवतीर्ण होकर शक्ति को ही ले कर आगे चलते हैं । प्रकृति में विद्युत-शक्ति ऋण रूप और धन रूप में है । दोनों का सन्तुलित-समन्वय ही सृष्टि को चलाता है और वह तब तक पुरुष के द्वारा सुसम्पन्न नहीं होती जब तक कि स्त्री साथ में न हो । इन्हीं दोनों भावों को लेकर उसे अर्द्धाङ्गिनी और सह-धर्मी कहा गया है । दोनों का असन्तुलन विनाश-हेतु है । यह माना कि भारतीय-धर्म में सन्यास आदि के ऐसे विधान भी हैं जिनमें स्त्री-परित्याग कहा गया है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह अवस्था जब तक आती है, उससे पूर्व ही स्वभावतः परित्याग हो जाता है । वानप्रस्थ तक बराबर स्त्री का साथ रहना माना गया है, क्योंकि सम्भवतः उस अवस्था के पश्चात् स्त्री रह ही नहीं जाती ।

मनु जैसे लोक-नीति विधायक अथवा नियामक स्त्री के कई रूप मानते हैं और ठीक मानते हैं । स्त्री सहचरी, मित्र, पुत्री, बहिन, माता, गुरु भी है । इसलिए भारतीय समाज-शास्त्र अथवा धर्म शास्त्र इसे पूरा महत्त्व देता है । सब से कठिन कार्य संसार में इसी का चुनना और प्राप्त करना है । इसके लिए विविध प्रकार के विधान बताये गए हैं । सर्वोत्तम इनमें से ज्योतिष का विधान है । जिसे आयुर्वेद शास्त्र भी मान्यता देता है । पर हिन्दू धर्म ऐसा भी मानता है कि पति-पत्नी सम्बन्ध एक दफा क्रायम होने पर जन्म-जन्मान्तर के लिए दृढ़ और अटूट हो जाता है और हर एक जन्म में वही प्राप्त होता है । एक-दूसरे का प्रतिबिम्ब हृदय पट पर अंकित रहता है और दोनों एक-दूसरे की तसवीर अपने दिल में लिये फिरते हैं । जब भी ऐसा वनाव बन जाता है कि दोनों एक-

दूसरे में इस तसवीर की झलक देख लेते हैं तो अनायास एक-दूसरे के प्रति खिंचाव हो जाता है और स्वभावतः आपस में प्रेम प्रकट हो जाता है। बहुधा देखते ही प्रेम हो जाने (Love at first sight) का आधार यही है।

प्रकृति ने स्त्री और पुरुष की शारीरिक और मानसिक रचना में काफी भेद रक्खा है और उनको विलकुल भिन्न प्रकार के स्वभाव से और कार्यशक्ति से विभूषित किया है। उनके आदर्श भी दूसरे और अलग-अलग हैं जिससे वे एक-दूसरे के परिपूर्णता के कारण बन जाते हैं। नारी गर्भधारिणी है, जीवनदायिनी है—प्राण पालन और प्राण सृष्टि का विचित्र ऐश्वर्य उसके शरीर और मन में पर्याप्त है। पुरुष का स्त्री की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान, विचारशील, शास्ता तथा ज्ञान और बल में अधिक श्रेष्ठ होना स्वाभाविक है, इसके विपरीत स्त्री का स्वभाव है—लज्जा, शील, संकोच, स्नेह, शान्ति, सहानुभूति, दया, त्याग। ये इसके विशेष गुण हैं। पुरुष में है शौर्य और नारी में है माधुर्य। नारी शक्ति में हम माधुर्य के साथ मांगल्य का भी अनुभव करते हैं।

पुरुषों के भिन्न-भिन्न अनेक आदर्श हो सकते हैं। कर्म पथ पर पुरुष की चेष्टाओं का अन्त नहीं। कभी होगा भी नहीं। अनजान के बीच वह पथ-निर्माण कर रहा है। किसी परिणाम पर पहुँच कर वह अवकाश नहीं पाता। पुरुष की प्रकृति में सृष्टिकर्ता ने तूलिका की अन्तिम रेखा नहीं खींची। पुरुष का कर्मक्षेत्र समस्त जगत् है।

नारी प्रकृति अपनी स्थिति में प्रतिष्ठित है। सार्थकता की खोज में उसे दुर्गम पथ पर नहीं जाना पड़ता। जीव प्रकृति के एक विशेष उद्देश्य ने उसमें चरम परिणति प्राप्त की है। स्त्री का कर्मक्षेत्र उसका घर और कुटुम्ब है। सन्तान उत्पन्न करना और उनका लालन-पालन, रक्षा करना और उनमें सद्भाव भरना और घर को पवित्र और शुद्ध बनाना, और नित्य लोकाचार का सचमुच आधार होना स्त्री का ही काम है। इन दोनों महान् कार्यों से बढ़कर संसार में कोई कार्य नहीं है और वह पुरुष के बूते से बाहर है।

पुरुष का संसार केवल चिन्ता का द्वन्द्व संशय का भोंका, तक का संघात, तोड़ने-बनाने का आवर्तना है । अपने इस निरन्तर प्रयास में उसका क्षुब्ध मन प्राणलोक की परिपूर्णता के लिये भीतर ही भीतर उत्सुक रहता है । नारी के भीतर इसी प्राण की लीला है । स्वयंकृत चिन्ताक्लिष्ट चित्र के पक्ष में पूर्णता की यह प्राणमयी मूर्ति अतिशय रमणीय है । इसी से पुरुष की साधना में हम नारी को शक्ति कह कर स्वीकार करते हैं । कर्म के क्षेत्र में हम इस शक्ति को प्रत्यक्ष नहीं देख सकते, जैसे हम फूल को देखते हैं पर जो शक्ति फूल को खिलाती है उसे हम कभी भी देख या पकड़ या छू नहीं सकते । पुरुष की कीर्ति में नारी की शक्ति भी इसी प्रकार की है । यह है नारी का मांगल्य और यही है नारी का श्री-सौन्दर्य ।

प्रेम एक शक्ति है । ठीक वैसी ही शक्ति जैसी कि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति है । नारी का प्रेम अति प्रबल है वह सहज ही विश्व को हिला सकता है । प्रेम पुरुष का एक लक्ष्य मात्र है स्त्री का तो समस्त जीवन है । नारी का प्रेम पुरुष का आनन्द ही हो, ऐसा नहीं, वह उसका कल्याण है ।

विशेष पराक्रमी होने के कारण पुरुष को ही विधाता ने स्त्रियों का स्वामी बनाया है । बिना पुरुष के अवला नारी का सब कुछ अपूर्ण है । जीवनपथ पर वह पुरुष के आधीन है । पुरुष क्षण-क्षण स्त्री का सहायक, उपदेशक, मार्ग-दर्शक होता है । इसी से स्त्री की बागडोर पुरुष के हाथ में होती है । अकेले स्त्री से जीवन-नैया पार नहीं हो सकती, उसको पार लगाने वाला पुरुष ही होता है । उसकी आत्मा को उच्चतम पहुँचाने वाला पुरुष का ही तप और आत्म-बल है । उसके सद्भावों का रक्षक और विकास देने वाला पुरुष ही है । इसी आध्यात्मिक विचारों के कारण भारतीय संस्कृति नारी को पुरुष के अधिकार ही में चाहती है—इस “अधिकार” शब्द का उलटा-सीधा अर्थ नहीं लगाना चाहिए । विवाह के समय वर-वधू की माँग सिन्दूर से भरता है । माँग भरने का अर्थ है कि वर वधू की हर माँग (Demand) की पूर्ति करेगा, उसे हर तरह से सन्तुष्ट

रखेगा । (इसी से सेन्दूर से भरी माँग को सोहाग का चिह्न मानते हैं) इन्हीं कारणों से स्त्री अपना अस्तित्व मिटा कर, अपना आपा खोकर, अपना सर्वस्व पति-चरणों पर न्यौछावर कर देती है । पति ही उसका सौभाग्य है, पति ही उसका शृंगार है । अपने माता-पिता के घर व कुटुम्ब को छोड़ कर अपने पति के घर व कुटुम्ब को अपनाती है । स्त्री का नाम तक मिट जाता है—पति के नाम में उसका नाम होता है पति के काम में ही उसका काम होता है, पति की सामाजिक स्थिति ही उसकी सामाजिक स्थिति है ।

भगवान् श्री राम जब सीता जी को मनाने लगे कि वन चलने का हट न करें तो सीताजी ने उत्तर में पति-पत्नी सम्बन्ध का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है :—

“मातु पिता भगिनी प्रिय भाई । प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई ॥
 सासु ससुर गुरु सजन सहाई । सुत सुन्दर सुसील सुखदाई ॥
 जहँ लग नाथ नेह अरु नाते । प्रिय विनु तियहि तरनिहुते ताते ॥
 तनु धनु धामु धरनि पुरराजू । पति विहीन सब सोक समाजू ॥
 भोग रोग सब भूषन भारु । जम जातना सरिस संसारु ॥
 प्राननाथ तुम विनु जगमाही । मो कहं सुखद कतहुं कछु नाहीं ॥
 जिय विनु देह नदी विनु वारी । तैसिय नाथ पुरुष विनु नारी ॥
 नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे । सरद विमल विधु वदनु निहारे ॥”

इसके अर्थ यह नहीं है कि स्त्री अपने पति की केवल छाया या केवल दासी है । कदापि नहीं । पुरुष के हृदय पर स्त्री अपना बड़ा आधिपत्य स्थापित करती है । बाह्य जगत् में भले ही पुरुष अपनी विजय का झण्डा फहराये या डंका बजावे पर अन्दर से वह बिल्कुल हारा हुआ रहता है । स्त्री के नयन वाण से घायल, उसके प्रेमपाश में बँधा हुआ सदैव पराजित, गिरा रहता है । पुरुष अपना धन, दौलत, बुद्धि, यौवन, जान तक स्त्री पर न्यौछावर करता है और फिर भी यह समझता है कि कुछ कमी रह ही गई । वह स्त्री की मृदु मन्त्रणा की अवहेलना कभी कर ही नहीं सकता । उसकी इच्छा

पूरी करने में उसे जो उल्लास होता है, उससे उसे अपनी शक्ति में पवित्रता का बोध होता है, अपने जीवन की सार्थकता अनुभूत होती है, अपने प्रकृति के किसी गहरे भाव की तृप्ति का आनन्द मिलता है। उसे प्रसन्न करने में वे मौन व बेचैन होकर अपने चित्त को रचा-पचा व ओत-प्रोत रखता है। इसी से हर देश के इतिहास में न मालूम कितनी बार स्त्रियाँ महान् युद्ध या स्थित्यन्तरो की कारण हुई हैं।

पति-पत्नी का जीवन-स्रोत प्रेम और सन्तोष की शीतल छाया में, पथ के विषम गड्ढाओं को, विघ्न-वाधाओं को अपने सम और सरल प्रवाह तथा गति में ढकता हुआ बहता रहता है। पर संसार में बड़ा संघर्ष है। पुरुष को ही घर से बाहर निकल कर हर तरह का काम करना पड़ता है। सब तरह की बुराइयों को और कठिनाइयों को सहना पड़ता है, कितने द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है, कितने ही मान-भंग और अपमान सहने पड़ते हैं। इस रौंध में पड़ कर उसका चित्त उदास, व्यथित और चिन्ताग्रस्त हो जाता है। हृदय कठोर बन जाता है, कभी-कभी घायल व पस्त हो जाता है। अजस, अपमान, उसके भाग में बदा रहता है। घर आने पर सेवा-सुश्रुषा करना, भीतरी घाव को भरना, दुःख-खेद और निराशा को दूर करना, सुख, सन्तोष और प्रसन्नता को लाना, घर को ऐसा प्रेममय, दुःख रहित, दुर्भाविनाओं से सुरक्षित, पवित्र आश्रम बना देना कि घर में पैर रखते ही दिन भर की थकावट दूर हो जाय, फिर से ताजगी आ जाय और नवीन आशा और शक्ति प्राप्त हो जाय, फिर बाहरी जीवन के द्वन्द्वों से सामना करने को चित्त अग्रसर हो जाय; यह काम स्त्री का है। वे नित्य के क्षण-सम्बन्धी जीवन में ही नहीं बल्कि त्रिकालव्यापी अनन्त जीवन में भी शान्ति प्रदान करती हैं। स्त्री पुरुष की शक्ति है, गृहलक्ष्मी है, गृह के भण्डार पर अधिकार होने के नाते अन्नपूर्णा है और अधिक विवेक होने के कारण सरस्वती भी है। स्वयं भगवान् ने गीता में स्त्रियों के उत्तम गुणों को अपनी विभूति कहा है।

पतिव्रता स्त्री और पत्नीव्रता पुरुष अपना जीवन इसी तरह निभाते हैं पर मृत्यु बहुतों के घर उजाड़ देती है । कहीं पति चल बसता है तो कहीं स्त्री पति को छोड़ जाती है । सती स्त्री, पति की सच्ची अनुगामिनी नारी यही इच्छा करती है कि पति के रहते ही मेरी मृत्यु हो जिसमें पति के वियोग में न रहना पड़े । विधवा होकर रहना सबसे बड़ा दुःख है । पत्नी के वियोग में पति की अवस्था किसी विधवा की सी तो नहीं होती पर वह एक गहरे सूनेपन का अनुभव अवश्य करता है । वह समझता है कि घर की शोभा चली गई, जिसको देखकर उत्साह और बल प्राप्त होता था वह चीज़ निकल गई, उसकी पूर्ति किसी चीज़ से नहीं हो सकती । शिव-शक्ति वर्णन के प्रसंग में कवि ने कहा है कि “शिव” पद में से शक्ति बीज “ई” को हटा दें तो “शव” ही रह जाता है ।

स्त्री है अखिल मानव जाति की जननी, उसका मुख्य कर्तव्य मानव-वंश का पालन-पोषण करना और मनुष्य में से पशु जैसी प्रकृति और स्वभाव को बाहर निकाल कर फेंकना है । इन्हीं आदर्शों को लेकर ही स्त्री मात्र अपना जीवन परमोपयोगी और महामहिम बना सकती है । स्त्री का श्रेष्ठतम त्याग, सच्चा हृदय-बलिदान और पूर्ण आत्मसमर्पण, बड़े ग़ज़ब का होता है । सृष्टि में कोई वस्तु नहीं जो इसका मुकाबला कर सके । इसी से सदैव मानव-जाति पर उनकी दिग्विजय इतनी सरल और दृढ़ होती है । इस अखण्ड प्रेम और सयत्न सेवा का सदाव्रत वाँटती हुई, बड़ी आसानी से ही वह इस विकारमय शरीर में ही देवियाँ हो जाती हैं । भगवान् को यह पतिव्रत धर्म, ऋषी-मुनियों के तपोबल से कहीं अधिक प्रिय है । यही तो बात है कि बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के समय बड़ी-बड़ी विपदाओं और निराशाओं के समय नारी अपने करुण पुकार से ही ईश्वर की शक्ति को अपनी ओर खींच सकी हैं । हम जानते हैं अपने पति को मृत्यु के हाथों से सवित्री ही लौटा लाई थी । सीता, द्रौपदी, सावित्री आदि अपने यहाँ असंख्य आदर्श हैं । स्त्री को अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिए स्वयं ईश्वर ने ही अतुल बल दिया है ।

इतिहास से यह सिद्ध है कि पुरुष का जो पतन है, वह उसकी मूर्खता या पाप से होता है और उद्धार का यदि कोई उपाय है तो वह स्त्री की बुद्धि और सद्धर्म से ही है। परन्तु स्त्री अपने धर्म से एक दफे भी डिग जाती है तो पुरुष में इतनी शक्ति नहीं है जो उसे बचा सके या प्रथम जैसी पवित्रता उसमें फिर से ला सके या उसे ऊपर उठा सके। अध्यात्म जगत् में स्त्री की जो श्रेष्ठता है वह इससे पूर्ण रूप से विदित होती है। अपने सद्ग्रन्थों से यह साबित होता है कि दो पापों का प्रायश्चित्त नहीं है—एक स्त्री के सतीत्व के भंग करने का और दूसरा भाई के अंश का हरण करने का—यही चट्टानें हैं जहाँ टकरा कर कितने परिवार चकनाचूर हो जाते हैं, कितनी जीवन नौकायें डूब जाती हैं।

एक प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक ने स्त्रियों की महानता का कितना सुन्दर वर्णन किया है :—

“From the earliest dawn of history, woman has been hailed as the Mother of this unfathomable world.....man has sight, woman has insight. From her eyes have sprung all that brings light and fire to human achievements. She has been the pilgrim's path, the blind man's eyes, the dead man's life. She has added light to sunshine, perfume to flowers, sweetness to songs and colour to every object of life.”

Bernard Shaw ने तो यहाँ तक लिखा है :—

“How unworthy even the best man is of a girls pure passion.”

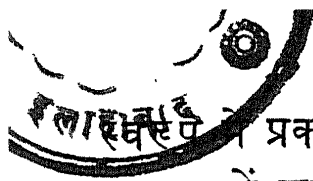
प्रेमचन्द जी ने अपने अमर उपन्यास “गोदान” में कहा है—
“पुरुष में नारी के गुण आ जाते हैं तो वह महात्मा बन जाता है।
नारी में पुरुष के गुण आ जाते हैं तो वह कुलटा हो जाती है।”

आदर्श सदा ही ऊँचा रहता है-संसार में सब आदर्श ही आदर्श नहीं होते । सामान्य स्थिति आदर्श से बहुत नीची होती है स्वार्थ-परता, ईर्ष्या, द्वेष, कलह, पाप, ढोंग, षड़यंत्र में स्त्री पुरुष से कम नहीं होती बल्कि स्त्रियों का नम्बर कहीं बढ़ा-चढ़ा होता है । मनुष्य जीवन में इनका भी स्थान है । यह सब जानते हैं यहाँ उसका विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है ।

भारतीय स्त्री जीवन

भारतीय सभ्यता का प्राचीनतम समय वैदिक युग है। यदि हम इस युग को संसार की सभ्यता का श्रेष्ठतम युग कह दें तो असंगत न होगा। इस वैदिक कालीन समाज और संस्कृति में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा जान पड़ता है। स्त्री है अखिल मानव जाति की जननी। सृष्टि के आरम्भ से ही जीवन का स्रोत नारी के अन्तःकरण से ही बहता हुआ देखा गया है। इसलिए उसकी पवित्रता पूज्यता और गौरव-गरिमा स्वतः सिद्ध है। हिन्दुओं के तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं में इसीलिए देवियों को ही एक न एक विशिष्ट क्षेत्र की अधिष्ठात्री मानकर पूजित किया गया है। उदाहरण के लिये वीणापाणि सरस्वती, विद्या की स्वामिनी और समस्त ज्ञान-विज्ञान की प्रदायिनी हैं, पतिपरायणा गौरी अथवा पार्वती अखण्ड सौभाग्य एवं सौख्य की संचालिका व अन्नपूर्णा हैं और संकटों के निवारण तथा उन पर विजय प्राप्ति के लिये भगवती दुर्गा अथवा काली वन्द्य है। पद्मासना लक्ष्मी भी इसी परम्परा के अनुसार जीवन को सुखी और जीने योग्य बनाने वाले समस्त उपकरणों, धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य की स्वामिनी हैं।

वैदिक काल में स्त्री-पुरुष बड़ी समान भूमिका पर रहते थे। उनमें कोई भेद-भाव नहीं था। वैसे तो प्रकृति ने इन दोनों में अन्तर बनाया ही है। ईश्वर ने स्त्री और पुरुष को बिल्कुल भिन्न प्रकार के स्वभाव और कार्य शक्ति से विभूषित किया है। पर पति-पत्नी एक-दूसरे के पूरक होते हुए ऐसा मानते व रहते थे कि प्रत्येक व्यक्तिगत जीवन में स्वतन्त्र रूप से विद्यमान पाये जाते थे। परन्तु कतिपय अवसरों पर एक अपने स्वरूप में और दूसरा अपने विशेष



प्रकट होते थे । विष्णुपुराण में बड़ी सुन्दरता के साथ इस सम्बन्ध में कहा गया है—

“पुरुष विष्णु है स्त्री लक्ष्मी; पुरुष विचार है स्त्री भाषा; पुरुष धर्म है स्त्री बुद्धि; पुरुष तर्क है स्त्री रचना; पुरुष धैर्य है स्त्री शान्ति; पुरुष हठ है स्त्री इच्छा; पुरुष दया है स्त्री दान; पुरुष मन्त्र है स्त्री उच्चारण; पुरुष अग्नि है स्त्री ईंधन; पुरुष सूर्य है स्त्री आभा; पुरुष विस्तार है स्त्री सोमा; पुरुष आँधो है स्त्री गति; पुरुष समुद्र है स्त्री किनारा; पुरुष धनी है स्त्री धन; पुरुष युद्ध है स्त्री शक्ति; पुरुष दीपक है स्त्री प्रकाश; पुरुष दिन है स्त्री रात्रि; पुरुष वृक्ष है स्त्री फल; पुरुष संगीत है स्त्री स्वर; पुरुष न्याय है स्त्री सत्य; पुरुष सागर है स्त्री नदी; पुरुष साम्य है स्त्री पताका; पुरुष शक्ति है स्त्री सौन्दर्य; पुरुष आत्मा है स्त्री शरीर”

स्त्री संसार की परम शक्ति है । वही आदि सृष्टि सत्ता धारण करने वाली है । इसमें पृथ्वी जैसी क्षमता, पर्वत जैसी गुरुता, चन्द्रमा जैसी शीतलता, सूर्य जैसी तेजस्विता, वायु जैसी स्फूर्ति तथा गंगा जैसी पवित्रता है । गीता में स्वयं भगवान् ने स्त्रियों के उत्तम गुणों को अपनी विभूति कहा है । मनुस्मृति में एक सुभाषित ऐसा है जिसमें हमें भारतीय स्त्री जीवन का सर्वोत्तम सम्मान दिखाई देता है । मनु कहते हैं :—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

यत्रेतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रियाः ॥

अर्थात्—जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं और जहाँ इनकी पूजा नहीं होती. वहाँ सब क्रियायें निष्फल होती हैं ।

वास्तव में भारतवर्ष की सामाजिक महानता का सच्चा रहस्य तो हमें स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में ही मिलता था, एक ओर पुरुष मातृ-शक्ति के रूप में स्त्री की पूजा करता था, दूसरी ओर स्त्री का आदर्श वह अनुपम पतिव्रत धर्म था । ये ही दोनों आदर्श भारतीय

स्त्री-पुरुषों को एक कौमलतम अदृष्ट स्नेह सूत्र में बाँध देते थे। मातृत्व व पत्नित्व इन्हीं दो आदर्शों को लेकर स्त्रीमात्र अपने जीवन को परमोपयोगी और महामहिम बनाती है और सारे संसार को सदैव के लिए ऋणी करती है।

इन्हीं उक्त बातों के आधार पर भारतवासियों ने युग-युग तक तो ऐसा सुखमय पवित्र जीवन व्यतीत किया परन्तु उसके समयान्तर परिस्थितियाँ क्रमशः बदलती गईं। विदेशी आक्रमण होने लगे, मुसलमानों का आगमन हुआ। जहाँ उनकी सेना पहुँचती वहीं वे बलपूर्वक बहुत से लोगों को मुसलमान बना लेते और उनकी स्त्रियों व बच्चों तक का अपहरण कर लेते। भारतवासियों ने उनसे बचने के लिये छुआछूत और पर्दे की प्रथा अपनाई। इस तरह अपने धर्म-कर्म की रक्षा की। इसी अवस्था में शताब्दी पर शताब्दी बीतती चली गई। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी हिन्दू-स्त्रियाँ अपने धर्म व मर्यादा की रक्षा के लिये चिताओं में जल जाने को सदा तैयार रहती थीं। रानी पद्मिनी, दुर्गाबाई इत्यादि स्त्रियों ने अपने अद्भुत साहस से अपने सतीत्व का परिचय दिया। फिर अँग्रेजों का आगमन हुआ और धीरे-धीरे उनके सम्पर्क में आते-आते पुरुष अपनी प्राचीन प्रथा छोड़ते चले गए। अपने पुराने नियमों की प्राण प्रतिष्ठा करने की अपेक्षा अपने कुचालों से उसे पंगु एवं निष्प्राण बना दिया। पर नारी धर्म को अचल मान कर अपनी साधना बनाए रही। वह समाज के आधारभूत नियमों को धर्म मान कर गहे रही। यहाँ तक कि उन्होंने अपने धर्म व मर्यादा की ही रक्षा नहीं की बल्कि ऐसी नारियों ने (जैसे महारानी ताराबाई, झाँसी की रानी अहिल्याबाई होल्कर आदि वीर महिलाओं ने) अपने देश की रक्षा करने में जान तक न्यौछावर कर दी। इसलिये हम अब तक बिल्कुल नष्ट नहीं हो पाये थे, पर अब स्त्रियों ने भी पुरानी प्रथाओं को छोड़ना शुरू कर दिया और पश्चिमी सभ्यता की नकल शुरू कर दिया है। कुछ स्त्रियों में उच्च भाव और विचार का नितान्त अभाव देखा जा रहा है। आजकल सिनेमा, फैशन, परदे का त्याग, शिक्षा और सहशिक्षा, देर से विवाह आदि वे हवायें हैं जिनसे कि गार्हस्थ्य

जीवन के वायु-मंडल में अशान्ति और अमंगल फैल रही है। कहीं फैलते-फैलते हम घोर अन्धकार और पतन की तरफ न जा गिरें। इस दशा में भारतीय आदर्श को फिर से कायम करना असम्भव जान पड़ता है।

इन सब कुरीतियों के लिए दोषी कौन है ? आजकल के माता-पिता या आजकल के नवयुवक या आजकल का समाज ? समाज के बन्धन तो आजकल ढीले पड़ गये हैं। यदि हम कहें कि आजकल कोई समाज ही नहीं रह गया तो ग़लत न होगा। आधुनिक काल में महात्मा गाँधी ने एक कल्याणकारी समाज के निर्माण के लिए भागीरथ प्रयत्न किया था, पर उनके बाद तो सब ऐसा अस्त-व्यस्त हो रहा है कि न जाने कब एक ऐसी व्यवस्था निकलेगी जो कि हमें एक सूत्र में बाँध कर संगठित होने का अवसर देगी। जब हम समाज को इतना ऊँचा उठायें तभी समाज की आँख घर-घर पर दृष्टि डाल सकेगी और तभी समाज का भय होगा और शायद उस दबाव से आजकल के अर्धपरिपक्व बुद्धि वाले नवयुवकों को उनकी मनमानी उच्छृंखलता एवं उद्दण्डता से सुरक्षित रखा जा सकता है और उनमें कुछ लोक-लाज की भावना पैदा हो सकती है।

माता-पिता के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वे अपनी सन्तान को अपने कहने में रखकर उसे अच्छा उपदेश देते तो वह बुरे प्रभावों से बची रहती। इस प्रकार युवकों के विषय में भी हम कह सकते हैं कि वे माता-पिता की बातों की परवाह कब करते हैं। अपने या अपने देश के भले-बुरे का विचार छोड़कर वे स्वयमेव चाहते हैं कि वे तथा उनकी स्त्रियाँ पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंगे दिखाई पड़े, चाहे इसमें उनका नुकसान हो चाहे उनकी स्त्रियों का।

किन्तु समाज के व्यक्ति लड़के-लड़कियों को ही दोषी बतलाते हैं। उनसे यह विनती है कि वे लड़कों को ऐसी शिक्षा दिया करें कि वे अपने तथा देश के भविष्य को समझें और बुराइयों की ओर न दौड़ें। नवयुवक यह अनुभव करें कि जो शोभा-श्री प्राकृतिक सौन्दर्य

में है, वह बनावटी शृंगार-पटार में नहीं। कागज के फूल देखने में चाहे जितने सुन्दर लगें किन्तु होते तो हैं निर्जीव ही। नवयुवक अपनी देवियों को विद्या, बुद्धि और स्वास्थ्य प्रदान कर उन्हें सचमुच मनोरमा बना सकते हैं, बाहरी सजावट की जगह सद्गुणों से गृहणियों को अलंकृत कर उन्हें गृहलक्ष्मी बना सकते हैं।

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि हम सब बातों में भले लगें—रूप में, रँग में, पहनावे में। यह इच्छा बुरी नहीं, किन्तु इसकी पूर्ति सुरुचि के साथ होनी चाहिए। हमारी बहू-बेटियों के पहनावे में भड़कीलापन न हो, दिखावट न हो बल्कि वह उनकी रहन-सहन का स्वाभाविक चुनाव हो। जैसे मसालेदार चटपटा भोजन स्वास्थ्य के लिए बाधक है उसी प्रकार आडम्बरपूर्ण जीवन मनुष्य के व्यक्तित्व का घातक है।

समाज बालिकाओं पर ही दोष मढ़ने की प्रवृत्ति छोड़ दे। सब पक्षों का विचार करे। यदि कोई कहे कि इसमें लड़कियों का ही अविवेक है और वे स्वेच्छा से ही अपने को बनाती-सँवारती हैं, तो यह कथन कहाँ तक ठीक माना जा सकता है? साज-शृंगार स्त्रियों की वस्तु अवश्य है। अतएव भारतीय गृहणियाँ सदा से ही इसे भी एक कला के रूप में अपनाती आई हैं। उनकी मेंहदी, उनका अंगराग, उनकी लाल साड़ी, उनका सुहाग बिन्दु, उनका अंजन, उनका अलंकरण, यह सब कुछ केवल ऊपर से लादी हुई सजावट की वस्तु नहीं, बल्कि प्रकृति के क्षेत्र से संगृहीत सौन्दर्य का संकलन है। प्रकृति में जो कुछ सुन्दर और शुभ है, भारतीय नारी ने अपनी सुरुचि से अपनी कला से उसे एक स्वाभाविक शृंगार में सम्मिलित कर लिया है। वे घर के भीतर प्रकृति की मानवी मूर्ति हैं।

पुरुष वर्ग नारी को अपनी मनमानी रुचि से रंग चुनकर नारी के प्राकृतिक सौन्दर्य को ढाँक कर, आज नयी रोशनी के नव-युवक अपनी रंगत में रंग कर, उसे उसकी निजी रुचि-अरुचि से वंचित कर रहे हैं। फलतः नारी की प्रसाधन-कला उसके जीवन

का स्वाभाविक अंग न बन कर नुमाइशी चोज़ हो गई है। उसको यह स्थिति कितनी दयनीय है।

नारी के साज-शृंगार में जो एक स्वाभाविक कला हो सकती थी वह आज फैशन के फेर में पड़ एक बला बन गई है। फैशन की दुःखदायी परम्परा चलाई किसने ? पुरुषों ने या स्त्रियों ने ? हम तो यहां कहेंगे कि पुरुषों ने ही इस बला को अबलाओं के मथे मढ़ा, उन्होंने ही उन्हें फैशन से मण्डित किया और वे ही उसकी प्रशंसा में प्रवृत्त हुए। इस प्रकार मानो वे अपनी ही कृति का बखान करते रहे।

आज भी नारी इतनी अबला है कि वे पुरुषों की अच्छी-बुरी सभी इच्छाओं की क्रीतदासी हो गई है। उनमें पुरुषों के अनौचित्य के विरुद्ध आवाज़ उठाने की शक्ति नहीं आई है। उन्हें अपनी आत्मा में भारतीय देवियों की साधना का बल संचित कर फिर से संसार को अपने व्यक्तित्व का परिचय देना चाहिए। अपने में इतनी शक्ति उत्पन्न करें कि पुरुष-समाज उनकी भी इच्छा-अनिच्छा का कुछ आदर करना सीखें। जिससे उनके भीतर भी एक व्यक्तित्व मिले।

इधर एक नई आवाज़ स्त्रियों की स्वतन्त्रता की उठी है। किन्तु इसे भी पहनावे की दिखावट की तरह विचारों की दिखावट का एक फैशन ही समझिये। चाहे किसी प्रकार के स्वातन्त्र्य की अनुभूति हुई हो या न हुई हो पर बात में स्वातन्त्र्य का नाम जरूर लेना चाहिए जिसमें लोग उन्हें नवीन विचारों की समझें। आज भूल से नारी की स्वतन्त्रता का यूरोपीय महिलाओं की-सी स्वच्छन्दता समझा जा रहा है। गुणों का कम, अवगुणों का अधिक अनुकरण हो रहा है। चिरबन्दिनी नारी के स्वतन्त्र होने का तात्पर्य यह न होना चाहिए कि हमारी बहू-बेटियाँ घरों को उजाड़ कर होटलों में बसेरा लें और मनमानी करें। आदर्श यह होना चाहिए कि हमारी बहू-बेटियाँ अपनी उस गृहस्थी में ही, जिसके भीतर उनके व्यक्तित्व के विकास

(३६)

का पूर्ण अवकाश है, बिना विघ्न-बाधा के अधिक-से-अधिक उत्पत्ति का मार्ग निकालती रहें । वे वस्तुतः जब स्वामिनी हैं तब उन्हें दासिका कोई कैसे बना सकता है । हाँ वे सच्ची स्वामिनी बन कर प्रत्यक्ष अपनी सत्ता और महत्ता प्रकट करें । वे केवल दासी नहीं, वे हैं सुगुहणी ही । वे चाहर-दीवारी में बन्द रह कर जीवन के विकास के जिन उत्तम साधनों से वंचित हो गयी हैं, उन्हें फिर प्राप्त करें और आदर्श-गुहणी होकर अन्धविश्वासों और कुसंस्कारों का नाश करने में राष्ट्र की शक्ति बनें ।

प्रार्थना

मानव-जीव दैवी प्रकृति का प्राणी है। मनुष्य के हृदय की तह में एक अलौकिक शक्ति विराज रही है। मनुष्य का जो मनुष्यत्व है, वह उसकी प्रवृत्ति का अध्यात्मभाव, उसका सदाचार, उसकी पवित्रता और उसके मन, बुद्धि, आत्मा और परमात्मा के साथ योग है। वह सहज-स्वभाव से सदैव ईश्वरचिन्तन करता रहा है और ऐसी सिद्धि लाभ करने की खोज में रहा है जिससे चिरन्तन अमरत्व और परब्रह्म के साथ पूर्ण सायुज्य प्राप्त हो।

ईश्वर को याद करने के न जाने कितने प्रकार हैं। उसे प्राप्त करने के लिये, न जाने, कितने मार्ग एवं मत हैं। हम वन्दना, स्तुति, पूजा, पाठ, जप और प्रार्थना से ईश्वर को याद और प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं। पर भगवत्प्राप्ति में प्रार्थना का बहुत बड़ा महत्त्व है। जैसे शरीर के लिये अन्न-जल अनिवार्य है वैसे ही आत्मा के लिये प्रार्थना अनिवार्य है। प्रार्थना मनुष्य की जन्मजात सहज-प्रवृत्ति है। इसका आधार मनुष्य का मानसिक दौर्बल्य, दैन्य तथा मनुष्य के ऊपर एक शक्ति की महानता का विश्वास और उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति का भाव है। हम जब अपनी असमर्थता खूब समझ लेते हैं और सब कुछ छोड़ कर ईश्वर पर भरोसा करते हैं तो उसी भावना का फल प्रार्थना है। प्रार्थना की वृत्ति देश-काल से सीमित नहीं, वह विश्वव्यापक है। मानवता के पथ-प्रदर्शन के लिये संसार में बहुत से दीपक जले हैं, पर प्रार्थना का दीपक अद्भुत एवं दिव्य है।

वन्दना, स्तुति, पूजा, पाठ, जप और प्रार्थना—इनमें जो अन्तर है, उसे समझना आवश्यक है। वन्दना का अर्थ—हम जिसकी वन्दना

करते हैं, उसके जो आभार-उपकार हमारे ऊपर हैं, उनको व्यक्त करते हुए, कृतज्ञता प्रकट करके उसे नमस्कार करना । (नमस्कार का अर्थ है, अपने अहंकार को प्रणम्य के सम्मुख झुका देना ।)

स्तुति का अर्थ है—प्रशंसा । इसमें हम जिसकी स्तुति करते हैं, उसके गुणों का, उसकी महिमा का वर्णन प्रधान रहता है ।

पूजा के दो अङ्ग हैं । एक भक्ति, दूसरा भजन । प्रभु के प्रति प्रेम या अनुराग 'भक्ति' है । सत्य, दया, ब्रह्मचर्य, धैर्य आदि जिन दैवी गुणों और चरित्रों में देवता, देवत्व में स्थित हैं, उसके साधन में पूर्ण योग देना, अपने को समर्पण करना, यह भजन है । पाठ या जप स्तोत्रों एवं मन्त्रों का उच्चारण करना भी भजन है ।

इन सबमें अचिन्त्य-शक्ति है और सबमें बहुत लाभ होता है ।

प्रार्थना का अर्थ है—याचना करना, माँगना । संसार तथा शरीर को थोड़ी देर भूलकर, प्रभु को दयासिन्धु, सर्वशक्तिमान् मानकर, सब कुछ छोड़कर, उन पर भरोसा कर, स्वमति के अनुसार जब हम उनसे कुछ माँगते हैं, तब हमारी उनसे प्रार्थना होती है । प्रार्थना बुद्धि का विषय नहीं है । प्रार्थना आत्मा की पुकार है । पवित्र हृदय और पवित्र जीवन दोनों के संगम से प्रार्थना का प्रादुर्भाव होता है । प्रार्थना की नहीं जाती अपितु स्वतः होती है । प्रार्थना का स्रोत, कण्ठ नहीं, हृदय है । प्रार्थना ही प्रार्थना का स्वरूप है । स्तुति और उपासना प्रार्थना में ही निहित हैं । प्रार्थना की पूर्ति में ही स्तुति उदय होती है । जीवात्मा का परमात्मा के साथ हृदय की अनन्यभक्ति से प्रेममय सम्बन्ध जोड़ना—प्रार्थना का उद्देश्य है । प्रार्थना स्वतः सर्व समर्थ से सम्बन्ध जोड़ देती है । नित्य-निरञ्जन निराकार ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी सबको नहीं मिलता । उस गहन, गम्भीर, विराट् और अनन्त-तत्त्व को पाने की साधना में जिस धैर्य और तत्परता की आवश्यकता है, वह दुर्लभ है । इस अवस्था में प्रार्थना ही वियोगी भक्त का विलाप है । प्रार्थना चित्त को प्रभु के सम्मुख उपस्थित कर

देती है और यह अवसर ला देती है कि साधक उनसे बोल सके, उनके सामने अपने हृदय को खोलकर रख सके, उनसे कुछ पाने को उत्सुक और व्याकुल हो उठे और उनसे परमार्थ की दीक्षा लेकर जीवन को सत्य, शिव और सुन्दर बना सके। एक ऐसा क्षण, जिसमें प्रभु की सच्ची याद हो, लाखों मुद्राओं से अधिक मूल्यवान् है। प्रार्थना हमारे अधिक अच्छे, अधिक शुद्ध होने की आतुरता को सूचित करती है। महत्त्व इसका है कि साधक प्रार्थना में कितना तल्लीन हो सकता है। सच्ची प्रार्थना के प्रभाव से साधक के सभी आचार-विचार और उच्चार दिव्यत्व से ओत-प्रोत रहते हैं। हर सच्ची प्रार्थना के पश्चात् एक नये और दृढ़ आत्मबल का लाभ होता है। साधक की प्रत्येक क्रिया प्रभु को समर्पित होनी चाहिए, प्रत्येक क्षण प्रार्थना से परिपूरित होना चाहिए। समस्त जीवन ही प्रार्थनामय होना चाहिए।

प्रायः लोग कुछ पद्य या श्लोक याद कर लेते हैं। प्रारम्भ में ये बहुत रोचक लगते हैं, किंतु कुछ समय में श्लोक या पद्य के शब्द मात्र बोले जाते हैं। मन को उन शब्दों का अर्थ स्पर्श ही नहीं करता। उन श्लोकों या पद्यों को प्रतिदिन की प्रार्थना में रखते-रखते पाठ मात्र न बनने देना चाहिए। जब भी साधक के भाव उनसे जाग्रत् न हों तो उन्हें बदल देने में संकोच न होना चाहिए। उत्तम प्रार्थना वही है, जिसके शब्द पहले से निश्चित न हों। प्रार्थना करते समय जो भाव चित्त में उठें, उन्हें अपने शब्दों में व्यक्त होना चाहिए। जो साधक के हृदय के उद्गार हों और वे उसी के शब्दों में उसके भावों को पूर्णता के साथ प्रकट करते हों, ऐसी प्रार्थना होनी चाहिए। यही प्रार्थना का रहस्य है। यह बात साधक पर ही निर्भर है कि उसे कैसी प्रार्थना अनुकूल पड़ती है।

रात्रि में निद्रा से पूर्व तथा प्रातः निद्रा-त्याग के तुरंत पश्चात् के क्षण प्रार्थना के सर्वोत्तम क्षण हैं। दिनभर के किये गये कर्म ईश्वर के सम्मुख रखना और निकृष्ट कर्मों के लिये क्षमा माँगना एवं संकल्प करना कि आगे जहाँ तक होगा, ऐसा कर्म फिर न होगा। इस प्रतिज्ञा के साथ विराम करना—फिर प्रातः नवीन शक्ति और

सुभाव के लिये प्रार्थना करके दिन का कार्य प्रारम्भ करना, यह प्रतिदिन का कर्त्तव्य होना चाहिए । प्रार्थना से शयन तथा प्रार्थना से जागरण—जीवन को प्रार्थनामय बनाने का प्रथम सोपान है ।

श्री रामकृष्ण परमहंस ने कहा था—‘साधना करनी चाहिए—एकान्त वन में, मन में या घर के निर्जन कोने में’ (वने, मने, कोने) । स्वच्छ-सुन्दर एकान्त स्थान हो, तन-मन पवित्र हो, जहाँ चित्त एकाग्र हो सके और अवकाश मिले, तभी प्रार्थना सुलभ है ।

प्रार्थना क्या की जाय ?—यह प्रश्न अति गम्भीर है । अनेक संकटों से ग्रस्त और उलझनों से घिरा मानव व्यग्र और व्याकुल हो उठता है । वह दुःख और व्यथा से छूटने के लिये प्रार्थी होता है । वह मान्यता करता है कि ‘अमुक कार्य होने पर यह पूजा करूँगा, यह पुण्य करूँगा’ । यह वास्तव में प्रार्थना नहीं, लेन-देन का व्यापार है । कुछ लोग प्रार्थना करते हैं कि ‘मेरा अमुक कार्य अमुक ढंग से ही हो’ । वे भगवान् को अपनी इच्छा-पूर्ति के ढंग भी सुभाते हैं । उनको भगवान् की समझदारी पर भी भरोसा नहीं रहता । भगवान् के ढंग से उनका हित हो, इतनी भी स्वतन्त्रता वे भगवान् को देना नहीं चाहते । यह आज्ञा है, प्रार्थना नहीं है । यदि वे अपनी आवश्यकताएँ, प्रभु को समझाना ही, प्रार्थना का उद्देश्य रखते हों तो, भगवान् की भगवत्ता में उनकी धारणा अत्यन्त दयनीय है । आदर्श प्रार्थना सकाम नहीं होती । सकाम भाव या स्वार्थमय प्रार्थना उसे सच्चे और विशुद्ध स्वरूप से भ्रष्ट कर देती है । साधक अपनी प्रार्थना को इस कसौटी पर रख कर देख ले कि कैसी प्रार्थना प्रभु की दृष्टि में उसे कौन-सा स्थान देगी ?

घोर आपत्ति के समय में प्रार्थना आवश्यक है । श्रेष्ठ पुरुषों का अनुभव है कि परमात्मा दीन-दुःखी की पुकार के आस-पास ही रहते हैं । उनको ‘खिन्न’ परमप्रिय हैं । जब हम सच्चे हृदय से प्रार्थना करते हैं तो उस प्रार्थना का उत्तर मिलता है । यदि हमें प्रार्थना का उत्तर न मिले तो समझना चाहिए कि प्रार्थना उचित मनोयोग से नहीं की गयी—विफलता भगवान् की उपेक्षा के कारण नहीं, बल्कि

अपनी शिथिलता के कारण है । ज्ञान से, अज्ञान से, जाने में, अनजाने में, स्वार्थ से, दुःख से, जिज्ञासा से और जिस प्रकार से भी जो परमेश्वर के पथ पर आगे बढ़ते हैं, परमेश्वर उतने अंशों में और उन्हीं के मानसिक रूप में उन्हें मिलते हैं ।

दीन-दुखियों पर दया करना, उनकी व्यथा में सहायता करना— ईश्वर की सर्वोत्तम प्रार्थना है । अति उत्तम है उसकी भी प्रार्थना जो प्राणिमात्र को, मनुष्य-मात्र को, पशु-पक्षी मात्र को अच्छी तरह प्यार करता है—

“He prayeth best who loveth best,
All things both great and small,
For the dear god, who loveth us,
He made and loveth all.”

जब ईश्वर ने जीवन दिया और हृदय में अपना स्थान बनाया तो फिर अपने लिये उनसे कहने-सुनने के लिये कौन-सी बात रह गयी ? ‘तुम्हीं को, तुमसे ही माँगते हैं वस, और मेरा सवाल क्या है ।’ कितनी उच्च भावना है । ईश्वर तो सर्वदा और संपूर्णतः मंगलमय हैं । ईश्वर प्राणीमात्र के भूत, वर्तमान, भविष्य-जीवन पर नज़र डालकर स्वयं समझते हैं कि उनके भक्त का हित किसमें है और अहित किसमें है । जिस प्रकार एक अबोध बालक अपने-आपको अपने माता-पिता की स्नेहमयी गोद में सुरक्षित पाता है, उसी प्रकार भक्त को प्रभु-शरण में निश्चिन्त होना चाहिए । प्रभु उसके योग-क्षेम का भार स्वयं वहन करते हैं और उसके हिताहित का ध्यान पूर्णतः रखते हैं । समस्त जीवन उन्हीं की इच्छा और संकल्प से पूरित होना चाहिए ।

हाँ, अपने जन्मदाता माता-पिता की आत्मा की शान्ति के लिये प्रार्थना करना मत भूलिए । जिनसे कुछ भी ज्ञान प्राप्त हुआ हो या जिनसे आपको दयाभाव मिला हो या जिनको आपसे कुछ दुःख पहुँचा हो, उनकी आत्मा की शान्ति के लिये भी आप अपनी प्रार्थना में स्थान दें ।

विश्व का साहित्य अनेकानेक प्रार्थना से भरा पड़ा है, पर गोस्वामी तुलसीदास जी की यह प्रार्थना विशेष उल्लेखनीय है—

जे निज भगत नाथ तव अहर्ही ।
जो सुख पार्वहि जो गति लहर्ही ॥
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु ।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु ॥

परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना करके वेदमन्त्र से इस प्रकार उनसे वरदान माँगना चाहिए—

तेजोऽसि तेजोमयि धेहि । वीर्यमसि वीर्यमयि धेहि ।
बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि ।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । सहोऽसि सहो मयि धेहि ।

(शुक्लयजुर्वेद १६ । ६)

‘हे परमपिता परमात्मन् ! आप प्रकाश-स्वरूप हैं, कृपा कर मुझमें कुछ प्रकाश स्थापन कीजिए । आप अनन्त पराक्रमयुक्त हैं, इसलिये मुझमें अपनी कृपा से कुछ पराक्रम धरिये । आप अनन्त बलयुक्त हैं, मुझमें भी बल प्रदान कीजिए । आप अनन्त सामर्थ्ययुक्त हैं, इसलिए मुझमें भी कुछ सामर्थ्य दीजिए । आप दुष्ट कार्यों को और दुष्टों पर क्रोध और क्षमा करने वाले हैं, आप निन्दा-स्तुति और अपने अपराधियों को सहन करने वाले हैं, कृपा करके मुझे भी सहनशील बनाइए ।’

यही प्रार्थना का फल होना चाहिए कि हम सब ईश्वरीय गुणों को अपने हृदय में धारण करें और संसार को सुखी करते हुए अपनी जीवन-यात्रा पवित्रतापूर्वक पूर्ण करें ।

ओउम् सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥
ओउम् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

धार्मिक शिक्षा

मानव ने सृष्टि में अपने चतुर्दिक निसर्ग का नैसर्गिक कार्य-कलाप देखा तो उसे यह चिन्ता हुई कि इस प्रकृति के साथ यदि मुझे रहना ही है तो कैसे रहा जाय एवं प्रकृति के साथ चलता हुआ, उसमें अपना निर्वाह करता हुआ अपने जैसे दूसरे व्यक्तियों के साथ कैसे चले और निर्वाह करे जिससे उसे दुःखानुभूति न हो और वह सुख-सुविधापूर्वक जीवित रह सके । इस प्रकार उसे मानव-प्रकृति और जड़-प्रकृति दोनों के नियमों की खोज करनी पड़ी । मनुष्य ने कालोपरान्त इस पर भी विचार किया कि इस लौकिक जीवन के वाद क्या है ? इस लौकिक जीवन का मूल उद्देश्य क्या है ।

धर्म का वस्तुतः तात्पर्य उस नियम या सिद्धान्त से है जिससे यह संसार धारित एवं जिससे मानवीय जीवन भी धारित होता है (धार्यते अनेन इति धर्मम्) । इसलिए धर्म के दो मुख्य रूप हो जाते हैं । अतः एक तो धर्म आत्मधर्म है जिसके गवेषणाओं से आध्यात्मिक शास्त्र तथा अन्य रहस्योद्घाटिनी विद्याएँ विकसित हुईं । आयुर्वेद, योग, भक्ति आदि इसके फल हैं जिसमें संलग्न रहने से चिरन्तन अमरत्व और परब्रह्म के साथ पूर्ण सायुज्य प्राप्त हो सकता है । द्वितीय को लोकधर्म कहते हैं जिससे तात्पर्य होता है उस नियम या आचार से जिसके कारण मनुष्य इस संसार में अभ्युदय और सर्वोन्मुखी विकास करता हुआ आवागमन के बन्धनों से मुक्त हो जाता है (यतोद्भ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः) । जिससे इस लोक और परलोक दोनों में सुख मिले वही धर्म है । इससे जान पड़ता है कि जितने भी सत्कर्म हैं जिससे हमारे चरित्रबल और आत्मबल की वृद्धि होती है, जिससे हमको और दूसरों को भी सुख मिलता

है, वे सब धर्म के अन्दर आ जाते हैं। आत्मधर्म और लोकधर्म दोनों अन्योन्याश्रित हैं। प्रथम के अन्तर्गत द्वितीय और द्वितीय के अन्तर्गत प्रथम आ जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि मानव जीवन के लिए धर्म-ज्ञान की अनिवार्य-रूपेण आवश्यकता है। भारत ने बड़े विचार के साथ धर्म को सिखाने के लिए सुन्दर मार्ग निकाले थे। बाल्यकाल से ही मनुष्य की शिक्षा का विधान बना था। किन्तु इस प्रकार कि बालक धर्म को तो पा जाय किन्तु उसके गूढ़ तत्त्वों में न उलभे। बाल्यकाल में ब्रह्मचर्य जीवन का विधान था। इसमें गुरु के अधीन, केवल प्रकृति की गोद में रह कर क्रमशः शारीरिक शक्तियों का विकास होने दिया जाता था। इस विकास में कृत्रिमता न रहे तभी इस शक्ति का स्वाभाविक विकास होगा। बटु या ब्रह्मचारी को शुद्ध आचार का स्वभाव बनाना पड़ता था। (मानव विज्ञान यह स्पष्ट करता है कि स्वभाव का बहुत बड़ा प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है। स्वभाव के कारण मनुष्य इच्छा के बिना ही कार्य करता है) वैसे ही वातावरण में वह रहता था। आवश्यकता इसलिए कदापि न होती थी कि वह जाने कि धर्म क्या है? ठीक उसी प्रकार से जैसे कि एक बालक बिना यह जाने कि हिन्दी भाषा क्या है? हिन्दी जानता व बोलता है। बालक जब और बड़ा होता था तो उसे अध्ययन में संलग्न करते थे जिससे उनको ब्रह्म का और अपनी आत्मा का ज्ञान होता था। यह लगभग २५ वर्ष तक चलता था। इस अवस्था के पश्चात् मनुष्य के लिए अत्यन्त प्रलोभन की वस्तु स्त्री होती है। इसलिए गृहस्थ जीवन का विधान था। और उसकी अच्छाई-बुराई देखकर वानप्रस्थ और उसके पश्चात् सर्व त्याग और सन्यास का विधान था। इस प्राचीन प्रथा को लेकर भारत-वासियों ने सर्वाङ्गतया सिद्धि प्राप्त की थी और संसार भर को ज्ञान और सच्चे सुख और शांति का अनुभव कराया था। सब संस्कृतियों के समन्वय का प्रथम प्रयोग ईश्वर ने भारतवर्ष में ही किया था। भारतवासियों का जीवन आदर्श बहुत ऊँचा था। देश के वायु-मंडल और कण-कण में धर्म के सिद्धान्त व्याप्त थे।

पर विदेशी आक्रमणों के कारण और विशेषकर अँग्रेजों के संसर्ग से और अँग्रेजी शिक्षा से भारतीय धर्म को बहुत आघात पहुँचा। हम अपने प्राचीन सिद्धान्तों को, अपनी कुरीतियों से पंगु एवं निष्प्राण बना चुके। अपनी श्रेष्ठताओं को गँवा चुके। हममें से अच्छे-अच्छे भी अपने उच्च सिद्धान्तों और आदर्शों को भूल गए। स्वराज्य होने के बावजूद भी इस प्रथा में कमी नहीं आई बल्कि दिनों-दिन वृद्धि ही होती जाती है। हिन्दू होते हुए भी हम अपने आचार-विचार, रुचि, भाषा और ध्येय में पश्चिमी सभ्यता को पूर्णतः अपनाए हुए हैं।

आजकल अपना हिन्दू धर्म महान् संकट की अवस्था से गुजर रहा है। कांग्रेस की मुस्लिम पोषक नीति एवं कम्युनिस्टों की धर्म विरोधी नीति ने संगठित होकर हिन्दू धर्म का अस्तित्व ही खतरे में डाल दिया है। वर्तमान समय बहुत कुछ परिवर्तित रूप में आ चुका है। इस अवस्था में यह अनिवार्य है कि मनुष्य को धर्म का ज्ञान हो।

आजकल देश भर के लिए धार्मिक शिक्षा एक जटिल समस्या है। यह कठोर सत्य है कि आजकल पाठशालाओं में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं मिल सकती। हमारे वर्तमान शिक्षा पद्धति में ऐसा कुछ भी नहीं है कि बालकों और युवकों के सामने कोई आदर्श उपस्थित हो। यह भी सत्य है कि व्यग्रचित्त माता-पिता को इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि अपने बाल-बच्चों की देख-रेख कर सकें। फलस्वरूप न तो उन्हें धर्म की कोई शिक्षा मिलती है और न अपने बुजुर्गों के प्रति अदब तथा सद्व्यवहार की। न तो उनके ऊपर कोई शासन रह जाता है और न दवाव जिसकी वजह से उनकी आँखों की शर्म भी जाती रहती है। जाति या समाज के बन्धन तो और भी ढीले पड़ गए हैं। उनके हृदय से जाति का भय विलकुल उठ गया है। ऐसी अवस्था में यह परम आवश्यक है कि घर ही उनके धार्मिक शिक्षा का केन्द्र बने। हर माता पिता को इसके लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

मानव जीवन का सर्वश्रेय यदि किसी को पूर्ण रूप से है तो अखिल-सृष्टि रचियता के पश्चात् उस जन्तु का है जो अपने गर्भ में

रखकर अपने जीवन के सार-तत्त्व से बच्चे का शरीर निर्माण करती है । और उसे पाल-पोष कर पूर्ण मनुष्य बनाती है । माता-पिता दोनों के प्रेम ऐक्य की अभिव्यक्ति के रूप में ही पुत्र आता है । शरीर उसका भले ही मातृ शरीरांश भूत पंचभूतों से बना हो, आत्मा उसकी पिता की आत्मा है । इसी से उसे आत्मज कहते हैं । इसलिए माता-पिता दोनों ही प्रथम आदर और पूजा की वस्तु हैं । मनुष्य के जन्म के बाद इस जीवन के सबसे पहिले और सबसे महत्त्वपूर्ण पाठ पढ़ाने का काम माता को और फिर पिता को ही करना पड़ता है । वास्तव में यह माता-पिता की ही जिम्मेदारी है कि अपने बच्चों को धार्मिक, शिष्ट, सुशील, सभ्य और योग्य बनाकर संसार में प्रवेश करावें ।

शिक्षातत्त्वविदों की इस विषय में एक मत और एक राय है कि मनुष्य जीवन के पहले सात वर्ष में बालक के भावी व्यक्तित्व की अच्छी या बुरी नींव पड़ती है । इन्हीं वर्षों में बालकों के कोमल ढाँचे में जो संस्कार जमते हैं वे ही सदा के लिए जम जाते हैं । वे संस्कार यदि अच्छे हुए तो उन्नति के कारण होते हैं और बुरे हुए तो उन्नति में बाधक होते हैं ।

यह सात वर्ष बालकों के प्रायः घर ही में माता-पिता के साथ रहने में और घर के वातावरण में व्यतीत होते हैं और इन्हीं वर्षों में बालक के भावी जीवन का अन्तः पट तैयार होता है । हर एक व्यक्ति की सबसे बड़ी शिक्षणसंस्था उसका घर या कुटुम्ब है । यहीं से जीवन स्रोत का प्रारंभ है । यहीं से साधनाओं की सहस्र धारायें फूटकर निकलती हैं । जैसा जीवन घर या कुटुम्ब में व्यतीत होगा वैसा ही मनुष्य होगा ।

माँ से बच्चे को कौन से दैवी गुण नहीं मिलते ? बच्चा जितना छोटा होता है उतना ही माता उसको लाड़-प्यार करती है । परिणामतः उतना ही अधिक उस पर मनोभाव व्यक्त करने का प्रभाव पड़ता है । जिन बच्चों को माता-पिता का अगाध प्रेम मिलता है (ऐसा प्रेम नहीं जो बच्चे को जिद्दी या मनमाना बना दे या उसमें स्वार्थ या अहंकार या घमण्ड का बीज बो दे) और जिन बच्चों के हृदय में

माता-पिता के प्रति प्रेम और आदर का अंकुर जम जाता है—वे ही बच्चे आगे चलकर अपने जीवन को सफल और महान् बना सकते हैं। यह माता का ही काम है कि अपने बच्चे के हृदय में अपने प्रति, उसके पिता के प्रति; प्रेम, आदर, विश्वास और कृतज्ञता का अंकुर जमा दे और उसके भावों को इतना रचा-पचा दे कि जैसे-जैसे बालक बड़ा हो उनके प्रति श्रद्धा, सम्मान और सेवा की भावना अपनाता चले। ऐसा करने से उत्तम गुणों एवं सत्य और धर्म की प्रतिष्ठा होती है। यही धार्मिक शिक्षा का प्रथम सोपान है। इसी सद्भावना से धर्म की आधार शिला स्थापित और दृढ़ होती है और सच्चा मार्ग दर्शन होता है। राम, कृष्ण, ध्रुव, श्रवणकुमार भीष्म पितामह आदि के चरित्र सुनाने-समझाने से भावनाएँ जागृत हो सकती हैं। यदि माता-पिता अपने बच्चों में अपने प्रति ऐसे प्रेम और विश्वास की भावना पैदा कर देते हैं तो बच्चे उनके आदेशानुसार अपना एक उचित मार्ग निर्धारित कर सकते हैं। जैसे भाई-बहन से मेल रखना अच्छा है, लड़ाई रखना खराब है। हँसमुख रहना अच्छा है, उदास रहना खराब है। साफ-सुथरा रहना अच्छा है, गंदा रहना ठीक नहीं है। बड़ों का कहना मानना अच्छा है, न मानना बुरा है इत्यादि इत्यादि।

तान के वेग से चंचल गान, अपने स्वरों को गहन कर चलते समय जैसे अपने कल्याण के लिए एक मूल लय और स्वर की स्थिति की ओर भीतर ही भीतर लक्ष्य रहता है वैसे ही गति वेग से मत्त बालक की चलायमान प्रकृति सदैव स्थिति के एक मूल आदेश को ध्यान में रखने से ही नियन्त्रित रहेगी।

बच्चे की ऐसी पृष्ठभूमि बन जाने पर उनमें दूसरों के प्रति दया की और मैत्री की भावना आनी चाहिए। फिर माता-पिता को चाहिए कि कुछ बड़े होने पर बच्चों के हृदय में ईश्वर की भावना पैदा करें। थोड़ा-थोड़ा ज्ञान इस प्रकार का दें कि ईश्वर महान् है, सर्वशक्तिमान है, सर्वव्यापी तथा सर्वज्ञ है, सब देखने वाला है, दयावान है, बुरे कामों से बचाने वाला है और बुरे कामों के लिए दण्ड भी देता है। और माँगने से सब कुछ देने वाला है।

बच्चे के हृदय में इस तरह ईश्वर और ईश्वर के गुणों का बोध पैदा करना चाहिए । यह कार्य तभी सम्भव हो सकता है कि जब माता-पिता स्वयं अपने दैनिक जीवन में प्रेम, श्रद्धा, भक्ति से कुछ समय परमात्मा की याद और पूजा-पाठ में व्यतीत करते हों । यह अटल सत्य है कि 'बाढ़हि पुत्र पिता के धर्मा' । उनके नींव की जड़ मजबूत करने के लिए माता-पिता के ही धर्म-कर्म हैं । बच्चों में ईश्वर के प्रति श्रद्धा लाने में शाब्दिक आदेशों, धमकियों और डराने से उतना प्रभाव नहीं पड़ेगा जितना अपनी सूक्ष्म और पवित्र भावनाओं से ।

हमारा भारत अत्यन्त प्राचीन और गौरवमयी संस्कृति का देश है । इस देश में सदैव ही महान् ऋषि-मुनियों से लेकर बड़े-बड़े राजे-महाराजे, साधु, सन्त, नेता और पुरुष होते आये हैं । उनके जीवन में महानता कूट-कूट कर भरी मिलती है । ऐसे महान् आत्माओं की भक्ति, वीरता, उदारता, परहित साधन, निरपेक्षता, करुणा, विश्वसनीयता और धीरज आदि मानवीय गुणों की कहानियाँ उसके इतिहास और रामायण और महाभारत ऐसे महान् ग्रन्थों में मिलती हैं । जिनको जान-समझकर ऐसी-ऐसी करुणापूर्ण, श्रद्धास्पद भावनाओं का उदय होता है कि जिसकी एक किरण भी हमारे समस्त जीवन को प्रकाशमय बना सकती है, जिनके थोड़े से भी अनुशीलन से भारत का प्रत्येक व्यक्ति संसार में गर्व से सिर उठाकर अपने को भारतीय कह सकता है । हमारे पण्डितों और शिक्षा तत्त्वविदों को चाहिए कि इस तरह की कहानियों का संकलन करें । ऐसा वे हर अवस्था के बालक के लिए अलग-अलग कर सकते हैं जिससे वे पाठकों के विचार धारा में खप जाय और उनमें जीवन के मौलिक तथा सत्य मूल्य बोध जाग्रत हों और उनके कोमल ढाँचे में ऐसे संस्कार जम जायें जो बड़े होने पर शुद्ध वातावरण पाकर, सत्यं शिवं सुन्दरम् का अनुभव करा सकें और अपने जीवन को महान् और सुखी बना सकें ।

समाज में धार्मिक शिक्षा के प्रति अभिरुचि जागृत तथा धार्मिक भावना से अनुप्राणित करने के लिए कुछ लोगों ने यज्ञोपवीत, सामू-

हिक रामायण और गीता पाठ पर अधिक जोर दिया है। यह अति उत्तम है। पर यह स्पष्ट है कि यदि धर्म की पृष्ठभूमि दृढ़ न हुई तो इन सबों से स्थायी लाभ न हो सकेगा। स्थायी तौर पर तबियत ही न जम सकेगी।

युवकों के चरित्र का निर्माण भी घर से ही होना सम्भव है। ईश्वर की तरफ भुकाव और उनका चिन्तन व उनकी भक्ति, वीर्य-व्रतधारी होने से ही सम्भव है। जीवन में दो महत्त्वपूर्ण मोड़ आते हैं जिसका प्रभाव बड़ा प्रबल होता है। एक समय जब युवक को नारी-पुरुष के भेद का ज्ञान होता है और दूसरा जब उसे पैसे के महत्त्व का ज्ञान होता है।

इन दोनों से माता-पिता को सदैव सतर्क रहना चाहिए और युवक को इनके दोष से बचाते रहना चाहिए। यह उनका परम कर्तव्य है क्योंकि इन्हीं दोनों बातों पर बहुत कुछ क्या सब कुछ निर्भर है। सीता के अपहरण व द्रोपदी को नग्न करने की चेष्टा करने से ही रावण और कौरवों का सर्वनाश हुआ था, सतीत्वहरण करने की बात तो बहुत अलग रही। वास्तव में सतीत्व भंग वह पाप है जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। द्रव्य या राज्य के लालच के कारण ही कौरवों का पतन शुरू हुआ और अन्त में नाश हुआ। इन्हीं के कारण कैंकेयी ने भरत को राजा बनाने के लिए सब षड़यन्त्र रचा था और उसे सृष्टि पर्यन्त के लिए अग्रयण प्राप्त हुआ। क्या ही अच्छा होता यदि अपनी जीवन-संगिनी को छोड़ कर अन्य स्त्रियों को हम माँ-बहिन का रूप मानें तथा उच्च पदाधिकारी व जनता धन की लालच छोड़कर देश की सेवा का ध्यान रखें। ऐसा करने से अपने देश की बहुत सी समस्यायें अपने आप हल हो सकती हैं।

कुटुम्ब के दो सम्बन्ध ऐसे हैं जिसके ऊपर चरित्रबल और आत्म-बल, सुख और शान्ति सब कुछ निर्भर है। पति-पत्नी का और भाई-भाई का। माता-पिता तो हमें जीवन दान देकर अपना सब कुछ सौंप कर चल देते हैं। बहिन भी अपने घर चली जाती है। केवल यही दो रह जाते हैं जो जीवन के चिरसंगी कहाए जाते हैं। यही जीवन

में शान्ति और अशान्ति का कारण बनते हैं। यही चट्टानें हैं जहाँ टकराकर कितने परिवार चकनाचूर हो जाते हैं, कितनी जीवन नय्या डूब जाती हैं। अपने दो महान् सद्ग्रन्थों में—रामायण और महाभारत में—इन्हीं दो सम्बन्धों को लेकर सारी कथाओं का विस्तार है। सीता और द्रौपदी का आदर्श इन्हीं से मिलता है। भाई-भाईयों की व्यथा का पूर्ण स्वरूप मिलता है। महाभारत में भाई-भाईयों को रोज़-मर्ग का खाका है। भाई-भाई का अंश दबाता है, आधा तो क्या एक सुई की नोक भर जमीन भी देना स्वीकार नहीं करता और उसी व्यथा में क्या-क्या बरबादी लाता है। रामायण की कथा और आदर्श, असाधारण है और अद्भुत है, सब साधन होते हुए भी श्री भरत ने राज स्वीकार नहीं किया और भगवान् रामचन्द्र को जब तक राज सिंहासन पर बैठे नहीं देखा चैन नहीं लिया। ऐसी कथा संसार के साहित्य में दूसरी नहीं है और इसी से रामायण इतनी श्रेष्ठ और महान् है।

लोक धर्म और कर्म तब ही सार्थक होंगे और उसका प्रसाद तब ही मिलेगा और जीवन तब ही सफल होगा और चरित्र-बल और आत्म-बल तब ही प्राप्त होगा जब पुत्र अनन्य भाव से अपनी माता-पिता की सेवा करता हुआ उनके मन से चले; पत्नी पूर्ण आत्म-समर्पण से पतिव्रत को निभाये; पुरुष वीर्यव्रतधारी होकर क्षण-क्षण पर पत्नी का सहायक, उपदेशक, मार्ग दर्शक हो; भाई-भाई एक मन होकर, एक ध्येय रख कर संगठित हो परस्पर सद्भाव से रहें भाई-बहिन आपस में कोमल हृदय से अखण्ड प्रेम का भाव एक-दूसरे के प्रति रक्खें। इस तरह घर के—जहाँ से जीवन-स्रोत उमड़ता है—वातावरण को शुद्ध और पवित्र बनाकर ही मनुष्य को सच्ची शान्ति का अनुभव होगा और वह आत्म-धर्म के पथ पर अग्रसर हो सकेगा और वह अन्त में वह सिद्धि लाभ कर सकेगा जिससे चिरंतन अमरत्व और परब्रह्म के साथ पूर्ण सायुज्य प्राप्त हो।

युवक ही देश की उन्नति के आधार हैं। सत्य, धर्म और चरित्र के विकास की पुण्य भूमि उनका कोमल हृदय है। यदि देश को, उसकी सभ्यता व संस्कृति को, उसके यश और वैभव को, उसके

(५१)

धर्म व साहित्य को, सारांशतः यदि देश की आत्मा को आधुनिकता के आक्रमणों से बचाना है तो बालकों और युवकों के आदर्श के लिए उन्हीं के धार्मिक शिक्षा के लिए देश के हर व्यक्ति को सारा दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा और अपने को भरसक प्रयत्नशील होना पड़ेगा । देर करना भारत पर अन्तिम प्रहार करना है ।

मानव-धर्म

प्रत्येक मनुष्य के लिए यह ईश्वरीय आदेश है कि वह अपने जीवन को ऐसा बनावे कि उससे मानव जाति के संस्कार अधिक उन्नत हों और मानव जाति सत्य, प्रेम और प्रकाश की ओर दिन-प्रतिदिन आगे बढ़े ।

जीवन पवित्र है, सनातन है । इस युगयुगान्तर व्यापी अखण्ड जीवन प्रवाह में मूल्य उन्हीं कर्मों का है जिनसे मनुष्य जाति समुन्नत होती है, अधिकतम पूर्णता लाभ करती है । उस साधन शक्ति से युक्त होती है जिसके द्वारा जातीय जीवन की धारा परमात्म-सत्ता के महासमुद्र से जा मिलने के लिए प्रधावित होती है ।

पर कर्म के साथ अपूर्णता लगी हुई है । दोष और दुःख कर्म से पृथक् नहीं होते । हर्ष, शोक, विफलता, राग-द्वेष, पाप-पुण्य, कर्म की रग-रग में समाये हुए हैं । इन सब कठिनाइयों पर विजय पाने के लिए हमारे शास्त्रों के 'आदेश' एवं ऋषि मुनियों के 'उपदेश' में आत्मबल तथा उत्साह प्राप्ति के लिए सद्बृत्ति (गुण) के साधन निहित हैं ।

व्यक्तिगत जीवन में तीन विशेष साधन हैं जिनसे जीवन की नींव दृढ़ होती है और जितना चाहें उतना ऊँचा भवन तैयार होता है । वे हैं ब्रह्मचर्य, शुद्ध सात्त्विक वृत्ति एवं स्वाध्याय-वगैर इनके भी बाहर से स्वच्छ होना असम्भव है । ब्रह्मचर्य की उत्कृष्ट साधना के बिना इन्द्रियों को विषय की ओर जाने से रोकना कठिन है, विषयों में फँसने से बचना कठिन है । गाढ़े पसीने और ईमानदारी से कमाए हुए धन से जो आहार होगा वह हमारी आन्तरिक वृत्तियों, भावों, विचारों एवं आचरणों को शुद्ध रखेगा । स्वाध्याय से जीवन का

उत्थान होता है, बुद्धि का विकास होता है, ज्ञान की प्राप्ति होती है, अपने स्वरूप का बोध होता है, कर्तव्य का निश्चय होता है, और प्रगति के मार्ग मिलते हैं। स्पष्ट है कि पवित्रता, केवल ब्रह्मचर्य और शुद्ध सात्विक वृत्ति से ही विश्व में कहीं अधिक अंशों में प्राप्त हो सकती है अन्य किसी भी साधन से नहीं।

इसके अतिरिक्त धैर्य, ज्ञान, यज्ञ, दर्प, तेज, अस्तेय, अलोलुपता, अपैशुनता, अचपलता भी वे गुण हैं जो मानव को पूर्ण बनाने में सहायता देते हैं। हर एक अपने-अपने जगह पर सामर्थ्यवान हैं। पर प्रेम और दया के बिना मनुष्यता का आना सम्भव नहीं है। ब्रह्मचर्य एवं शुद्ध सात्विक वृत्ति की प्राप्ति में जितनी कठिनाई है उतनी प्रेम और दया के मार्ग में नहीं बल्कि प्रेम और दया के मार्ग में अग्रसर होने से उल्लास एवं उत्साह की प्राप्ति होती है। यदि सत्य, प्रेम और दया को निकाल दें तो किसी धर्म में या किसी मनुष्य में कुछ रह ही नहीं जाता। अहिंसा, अक्रोध, अद्रोह, नम्रता, कोमलता, सरलता, शान्ति, सहनशीलता, क्षमा, त्याग, दान, परोपकार-दया के साथी हैं।

यदि हम किसी को पीड़ित देखें और यह अनुभव करें कि यही पीड़ा यदि हमें होती तो हमें कैसा कष्ट होता ? हमारा हृदय करुणा भाव से द्रवित हो जाय और हम चाहने लगें कि इसका कष्ट दूर हो जाय तो इस करुणा भाव की प्रवृत्ति का नाम दया है। दया, करुणा से उद्भूत होती है और फिर दया से क्षमा की भावना जाग्रत होती है। दया क्रोध और घृणा का विनाशक है। जीव का कल्याण करने की वृत्ति को भी दया कहते हैं। दया धर्म का मूल है। जिसको जीव मात्र के प्रति दया और प्रेम है उसने अपने धर्म को जाना है, ईश्वर को पहचाना है, वह परम भक्त है, वह जगद्गुरु है। ईश्वर से दया ही नहीं सब कुछ पाने का अधिकारी है। दयावान का ध्येय यही होता है कि —

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवन् ।

कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

“न तो हमें राज्य की कामना है, न स्वर्ग की और न पुर्नजन्म की । मैं केवल दुःख से पीड़ित प्राणियों के कष्ट विनाश की ही कामना करता हूँ ।”

दया ईश्वर का प्रमुख गुण है । उसे लोक को पालना है, लोकहित करना है, इसलिये उसमें दया है, करुणा है, क्षमा है और हितकारिणी शक्ति है । वस्तुतः उक्त तीनों गुणों के न होने पर यह शक्ति भी नहीं रह सकती ।

इसी से दया का आधार लेकर ईश्वर के जितने नाम बने हैं—चाहे ये हिन्दू धर्म के हों चाहे इस्लाम अथवा ईसाई धर्म के हों उतने और किसी गुण के आधार पर नहीं बने । ब्रह्मा ने प्राणिमात्र के कल्याण के लिए एक अक्षर दिया था ‘द’ जिसका अर्थ है-दया, दान, दमन । इन तीनों से ही मनुष्य कितना महान् बना है । तात्पर्य यह है कि मनुष्य या आत्मा तभी परमात्मा का सही में सत्य अंश कहा जा सकता है जब उसमें वह गुण हों जो परमात्मा में हैं । इसलिये मनुष्य को आनन्द स्वरूप परमात्म-तत्त्व को प्राप्त करने के लिये संलग्न चेष्टा करनी चाहिए । यद्यपि है वह उसी तत्त्व का अंश और उसमें यह गुण स्वभावतः विद्यमान हैं, किन्तु वे भौतिकता के आवरण से प्रकट नहीं होते । इन गुणों को प्रकट करने से यह आवरण हट जाता है ।

तन, मन, धन से आर्त्तजनों के लिए उपयोगी होना, जो कुछ अपने पास है उसे यथा शक्ति उनकी सेवा और परमार्थ में लगा देना दान कहलाता है ।

धर्म का स्थान शास्त्र नहीं मानव हृदय है । यह बात हर युग में मानी जाती रही है । फिर आज के युग में तो यह अच्छी तरह जान लेना जरूरी है कि धर्म की सबसे बड़ी कसौटी है : मनुष्यता ।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । उसको समाज का ही बन कर रहना पड़ता है । उसे जो कुछ भी प्राप्त है, उसकी जो कुछ भी आवश्यकतायें हैं, वह उसके अकेले के प्रयत्न से नहीं सबके सहयोग से हैं । ईश्वर ने उसे आदान-प्रदान की शक्ति दी है । मानव एक तो सदैव अपने व्यक्तिगत कार्यों में व्यस्त रहता है फिर उसे अपनी

जीविका चलाने के लिए दूसरों की आवश्यकताओं को पूरा करने के प्रयत्न में समय बिताना पड़ता है। उसे बदला चुकाने के गरज से ऐसा उपकार करना पड़ता है। यह तो साधारणतः मनुष्य जीवन की गति है परन्तु इस प्रकार का उपकार नीचे दरजे का उपकार है। सच्चा उपकार तो यही है जो निष्काम भाव से किया जाय। दान का यही भाव है। प्रेम, समता, सद्भावना की स्थापना के लिए देने से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। इसी से श्रेष्ठ आत्माओं की ऐसी प्रवृत्ति होती है कि वे दूसरों का हित बगैर अपने हेतु साधन के ही किया करते हैं। महात्मा तुलसीदासजी ने कहा है—

पर हित सरिस धरम नहि भाई ।

पर पीड़ा सम नहि अधमाई ॥

परोपकार के समान कोई धर्म नहीं है और दूसरे को दुःख देने के समान कोई अधर्म नहीं है।

प्रकृति में स्वयं भी ऐसे पदार्थ भरे पड़े हैं जो स्वयं को मिटाकर दूसरों के सुख को बढ़ाते हैं। उदाहरण के लिए देखिए—

पिबन्ति नद्यः स्वयंमेवनाम्भः ,

स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः ।

नादन्ति शस्यं खलु वारिवाहः ,

परोपकाराय सतां विभूतयः ॥

नदियाँ स्वयं जल नहीं पीतीं, वृक्ष स्वयं फल नहीं खाते, वादल स्वयं किसी फल की कामना से नहीं गरजते वरन् जल बरसा कर हमारे लिए फसल उपजाते हैं। सज्जनों की विभूतियाँ परोपकार के लिए ही होती हैं।

गेहूँ को लीजिए—किसान गेहूँ को दाय-मीज कर अलग करता है। मनुष्य उसे पीस कर आटा बनाते हैं, इसके बाद उसे सानते हैं और गूँधते हैं और तब बेलते हैं। बेलने के बाद तबे पर गर्म करते हैं फिर आग व कोयले पर सेकते हैं। इतना दुःख सहने के बाद ही गेहूँ मनुष्य मात्र का पेट भरता है।

कपास को देखिए—कपास गर्मी, सर्दी, वर्षा सह कर वन में

पन्न होता है । सुखा कर चर्खी में ओटा जाता है, धुना धुनता है, खी में सूत कतता है । कपड़ा वन धोवी के यहाँ कुटता, दर्जी टुकड़े-कड़े करता, सुईयों से शरीर छिदता—ऐसे दुःख उठा कर ही वस्त्र प हो मनुष्य के शरीर की रक्षा करता है और छिद्रों को ऋपाता है ।

बाँसुरी की भी कसक : कहानी बहुत ही अनुपम है । बाँस की तली सी नली अपना अंग-अंग कटवाकर, अपना सीना छिदवाकर, भु के अधरों पर जगह पाती है, संसार को मोहित करती है । एक वि ने कितना सुन्दर वर्णन किया है कि राधा, बाँसुरी से उसका इस्य पूछती है कि आखिर वह प्रभु को इतनी प्यारी क्यों है ? प्रका उत्तर बाँसुरी ने दिया—

सजनो जो कटा हर अंग मेरा ।

कुछ और ही निकला रंग मेरा ॥

मैं प्रेम को समझी थी आसों ।

सुन कर होगी तुम भी हैराँ ॥

छेदों से मेरा सीना है भरा ।

आ हाथ लगा कर देख जरा ॥

अब तन क्या है इक तान सखी ।

प्रीतम के साँस हैं जान सखी ॥

दीपक की व्यथा भी यही है । दीपक स्वयं प्रकाश स्वरूप होकर पनी ही ज्वाला में जलकर सभी को विमल ज्योति में जगमगा ता है । एक कवि ने इस भाव को कितने सुन्दर ढंग से दर्शाया है—

जलाकर स्वयं को उजाला जुटाना ।

मिटाना कठिन कालिमाएँ धरा की,

प्रदीपों ! जगत सीखना चाहता है ॥

इसके बाद मिट्टी को लीजिये—कुम्हार अपने पसन्द की मिट्टी खोद कर एकत्र करता है, फिर उसे मथता और रौंदता है। मिट्टी तैयार हो जाने पर उसे चाक पर रख कर अपनी इच्छानुसार विभिन्न प्रकार के मिट्टी के उपकरण तैयार करना प्रारम्भ करता है। इस क्रिया में यह एक सूत से चाक पर रखी हुई वस्तु को काटता है। पुनः सूखने को धूप में रखता है। सूख जाने पर आवाँ लगाकर आग में पकाता है। पक जाने पर इस तरह तैयार हुए वर्तन—मटका, गगरी या झझर मनुष्य मात्र के पानी पीने, सामान रखने आदि गृहस्थी के काम में आते हैं। ये वर्तन जितने अधिक पके होंगे उतने ही अच्छे व मजबूत तथा पानी को ठण्डा करने वाले होंगे। इस प्रकार मिट्टी तरह-तरह के कष्ट उठाने के बाद आग में पकने के बाद मानव-मात्र के लिए उपयोगी बन पाती है।

वरसात में पानी का वहाव सराहनीय हैं जब भी थोड़ा बहुत पानी इकट्ठा हुआ तो आगे बढ़ता है और गर्द व गुबार को ढकता है, गड्ढों को भरता है, यहाँ तक कि वह समाप्त हो जाता है और अपने अस्तित्व को खो देता है पर भरसक अपने मार्ग की सफाई कर देता है, गड्ढों को भर देता है। उसी तरह परोपकारी पुरुष जो जिस लायक है, जो जितना समर्थ है, दूसरे के उत्थान के लिए, दूसरे की कमी पूरा करने के लिए लालाश्त रहता है।

मोती बँधे जाने पर ही आभूषण के लायक होते हैं, दूसरों के शृंगार की वस्तु होते हैं। एक उर्दू कवि ने उनके आनन्द को यों दरसाया है—

कोई उस चाँद के माथे के टीके में उछलता है,
कोई बुन्दों से मिलकर कान के नरमों से मलता है।
लिपटकर धुकधुकी से कोई सीने पर मचलता है,
कोई भुमकों में भूलै है कोई बाली में हिलता है।
यह सब लज्जत है जब अपना छिदाते हैं जिगर मोती।

यही हाल मेंहदी का है । यह पत्थर पर पिस जाने पर ही अपना रंग निखार पाती है और दूसरों को सुन्दर बना पाती है और लालिमा देती है । सुरमा आँखों में लगाने लायक तभी बनता है, नैनो को सुन्दरता तभी देता है, नेत्रों को ज्योतिदायक तभी बनाता है, जब पत्थर पर खूब महीन पिस जाता है ।

फूलों की सुगन्ध को देखिये—फूल ऐसा पवित्र और कोमल निवास स्थान पाकर भी सुगन्ध उसमें रहना पसन्द नहीं करती । वहाँ से निकल कर अपने वातावरण को यथा शक्ति सुगन्धित बना कर ही रहती है । एक उर्दू कवि ने कहा है—

बुये गुल फूलों में रहती थी मगर रह न सकी ।

हम तो काँटों में रहे और परेशाँ न हुए ॥

क्षुद्र हृदय वाले अपने दुःखों में विलविलाते ही रहते हैं, वे तिस पर भी वातावरण को छोड़ नहीं सकते । श्रेष्ठ लोग दूसरों के हित के लिए अपने आनन्द को भी त्याग कर उसे दूसरों को बाँट देते हैं । इसीलिए कहा जाता है कि परोपकारी लोग विश्वबन्धु होते हैं, उनकी दृष्टि में यह अपना है, यह पराया है ऐसा कुछ रहता ही नहीं—यह हिसाब तो क्षुद्र हृदय वालों का है जिनका दिल तंग है । जो उदार हृदय पुरुष है जिनका दिल बड़ा है, उनके लिये तो सारा संसार ही उनका कुटुम्ब है—

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् ।

उदार चरितानाम्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

परमात्मा इन्हीं की आँखों से संसार को देखते हैं, इन्हीं के हाथों से संसार का भला करते हैं । भगवान् अपने नियम कभी नहीं बदलते पर ऐसे श्रेष्ठ जन चाहें तो उनका मन रखने के लिए वे अपना नियम तक को बदल देते हैं । विन्दु महाराज ने कहा है—

प्रबल प्रेम के पाले पड़कर,

प्रभु को नियम बदलते देखा ।

अपना मान टले टल जाये,

ज्ञान का मान न टलते देखा ॥

ऐसे ही श्रेष्ठ लोगों के लिये महात्मा तुलसीदासजी ने भी कहा है—

मोरे मन प्रभु अस विश्वासा ।

राम ते अधिक राम के दासा ॥

उदार चित को परहित में अटूट बल है उनके दान में अथाह शक्ति है, उनको आदेश है—आज जो है दे दे कल जब होगा तो देने के लिये परमात्मा फिर देगा ।

दे दे ! खुदा के नाम पे प्यारे,

ताकत गर है देने की दे दे ।

जो चाहे सो मांग ले उससे,

ताकत गर है लेने की ले ले ॥

अपने लिये परमात्मा से कुछ माँगा जाय तो वह नहीं भी मिल सकता पर यदि दूसरों के लिये माँगा जाय तो वह तुरन्त मिलता है । अपने लिये श्रेष्ठ जन कुछ माँगते ही नहीं, मिले हुए में से अपने लिये कुछ बचाते ही नहीं । एक हाथ से लेते हैं दूसरे हाथ से दे देते हैं—

दुनिया न जान इसको मियाँ दरया की यह मझधार है

औरों का बेड़ा पार कर तेरा भी बेड़ा पार है ॥

परोपकार के असंख्य रूप हो सकते हैं । जो भयभीत दशा में रहते हों, अन्याय सहते हों, पड़ोसियों का बुरा बरताव सहते हों, आलस्य में जीवन व्यतीत करते हों, अपने अज्ञान को हठ से दूर करने का प्रयत्न न करते हों, जो घमण्ड करते हों—जो दूसरों से ईर्ष्या करते हों, इन सबसे मनुष्य को बचाना यह भी परोपकार है ।

धन्य हैं वे पुरुष जो दूसरे की व्यथा को समझकर सच्ची लगन से उसको मिटाने की चेष्टा करते हैं । दूसरे की व्यथा को अपनी

व्यथा समझते हैं, निष्काम भाव से अपना सब कुछ बलिदान कर देते हैं ।

एक उर्दू कवि ने कितने सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है—

बलायें लूं मैं उस दिल की जो दुनियां के लिए रो दे ।
जहाँ वालों के रंजोगम को अपने खून से धो दे ॥
जलाकर आशियां अपना, सजा कर गैर की महफिल ।
किसी के सोजे गम से अपने सोजे दिल को भी धो दे ॥
मेरी आँखों में उसकी आँख ही इज्जत के काबिल है ।
जो आँसू बन के बह जाये, खुदी को खुद में ही खो दे ॥

वास्तव में :—

सुख-दुःख कब कोई, वांट लेता किसी का
सब परिचय वाले, प्रेम ही हैं दिखाते;
यदि यह न हुआ तो, सत्य ही मैं कहूँगा
मधुकर यह तेरी, दोष है कालिमा का ।

मानव और विज्ञान

सृष्टि का वह आरम्भ क्षण महदाश्चर्य का क्षण था जब प्रलय में से इस विश्व का प्रसव हुआ । सृष्टि की सारी अस्त-व्यस्त सामग्री में से एक व्यवस्था निकल आयी, असम्बद्ध घटनाचक्र से एक कार्य-कारण परम्परा बन गई, अराजकता-सी दीख पड़ने वाली महती अव्यवस्था से एक दिव्य व्यवस्था प्रादुर्भूत हुई और कराल-काल-सुन्दर-मधुर होकर सामने आया । यह ईश्वरी शक्ति का चमत्कार था उसमें से सारा संसार और उसका यह अद्भुत विस्तार निकल पड़ा ।

इसके बाद परिस्थितियाँ क्रमशः बदलती गईं । अनेक योनियों द्वारा संसार सुसज्जित हुआ । पर प्राणसृष्टि की प्रवृत्ति मनुष्य उत्पन्न करने की ओर ही रही । सृष्टि का क्रम विकास यहीं आकर समाप्त हुआ—यही सृष्टि की सर्वाङ्गपूर्ण वस्तु हुई । यही ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ विभूति कहलाई ।

युगों तक मनुष्यों ने अपना जीवन पशु-पक्षी आदि स्थलचर और जलचर, मत्स्य, मकर, ग्राह आदि जीव-जन्तु में ही बिताया । फिर पशुओं का गुर्ना और किलकिलाना, नोच-खसोट, फाड़ूँ-खाऊँ, उसे नहीं भाया । यह काम मनुष्य प्राणी का ही था जो उसने अपनी अंध प्रकृति के प्रवाह में बहना स्वीकार न कर स्थिर चित्त होकर विचार किया—सहज प्रकृति भावों को, तोलना प्रारंभ किया और जो भाव उसे जंगल में अन्य पशुओं के समान जंगली ही बने रहने की ओर झुकाने वाले थे उनके बंधन काट कर बाहर निकल आया और अपने ओर चारों तरफ देखकर, गौर कर यह संकल्प किया कि नहीं इस रास्ते पर मैं नहीं चलूँगा मेरा एक अलग रास्ता होगा । वह

एक ऐसा रास्ता था जिस पर क्षण-क्षण में दुःख, शोक, कष्ट, बलिदान, बरबादी और नैराश्य का ही सामना था, पर था, वह रास्ता अमर सनातन जीवन का । इस विवेक या विवेक पूर्वक पसंद की शक्ति से मनुष्य ने पृथ्वी का रंग ही बदल दिया । यदि पसंद की यह शक्ति मनुष्य में न होती तो सृष्टि के पहले दिन, जो इस पृथ्वी की हालत थी वही आज तक बनी रहती ।

अनेक संकटों से ग्रस्त और विशाल नैसर्गिक शक्तियों से आक्रान्त मानव ने अपने को सुरक्षित रखने के लिए अनेक उपाय किए । गरमी, जाड़ा, बरसात, तूफान से बचने के लिए खंदकों में विश्राम किया या झोपड़ियाँ बनाईं । खूंखार जानवरों से बचने के लिए अस्त्र-शस्त्र बनाये । पशुओं को काबू में करके उनसे काम और मदद लेना शुरू किया । आग जलाने की कला, खाना पकाने की कला, सूत कातने की कला, मिट्टी से बर्तन बनाने की कला का आविष्कार किया । जमीन जोतना शुरू किया । जिस दिन जुती हुई जमीन से अनाज बोक़र जल से सींचकर वह अपनी आजीविका तथा भविष्य के संग्रह के लिए पर्याप्त अनाज प्राप्त कर सका और व्यापार के लिए सिक्के बनाये वह दिन मनुष्य के लिए बहुत महान् रहा ।

पर इन सब कलाओं से कहीं अधिक आश्चर्यजनक कला वह थी जब उसने अपने कण्ठ से निकली हुई अनेक प्रकार की ध्वनि से अक्षरों की वर्णमाला तैयार की और फिर उन्हें लिखने में रूप दिया । अक्षरों के अनेक प्रकार मैत्री व परस्पर मिलाप से असंख्य शब्द बने जिससे उसकी भाषा का निर्माण हुआ । इसी तरह उसने गिनती बनाई जिससे गणित विद्या तैयार हुई । यह कलायें मानवी संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं । वर्णमाला और गिनती असली जड़ हैं जिससे विद्या और विज्ञान की नींव जमी । इन्हीं दोनों के अन्तर्गत और आधार पर मानव जाति की उन्नति यात्रा आरम्भ हुई और अब भी इस यात्रा का कोई अन्त नहीं मालूम पड़ता ।

फिर उसने अपने व्यक्तिगत साधन से अपने घर या कुटुम्ब का रहस्य जाना । मूल पुरुष ने अपने से पशुत्व को निकालकर फेंक

देने का निश्चय किया। उसे सूझा कि तन और मन के ऊपर नियन्त्रण करके ही वह ऊँचे ध्येय पर पहुँच सकता है और नियम एवं संयम से ही वह किसी कार्य में सफलता प्राप्त कर सकता है। उसे अपने निज के साधन का मुख्य अंग वीर्यव्रतधारी होना और ब्रह्मचर्य पालन करना लगा। यहीं विवाह ऐसे अन्यतम संस्कार की नींव पड़ी जिससे कुटुम्ब व्यवस्था दृढ़ हुई और समाज का निर्माण हुआ। फिर गाँव, शहर, देश और राष्ट्र कायम हुए।

इन सबसे एक शान्ति का वातावरण पाकर मनुष्य ने विश्व-बन्धुत्व और वसुधैव कुटुम्बकम् का उदार और पवित्र भाव अपनाया और दिव्य सत्ताओं को सोचना-समझना चाहा। और अपने हृदय के तह के अन्दर वह अलौकिक शक्ति का अनुभव किया जिससे उन्नत होकर सर्वज्ञ, सर्वगुणाश्रय, सर्वपावन, सर्वशक्तिमान भगवान् की ओर बढ़ने में अग्रसर हुआ और चिरन्तन, अमरत्व परब्रह्म के साथ पूर्ण सायुज्य प्राप्त करने की उसकी आत्मा जाग उठी।

प्राकृतिक और नैतिक नियमों से बँधा होने के कारण विश्व ठहरा हुआ है। इसी तरह समाज की रक्षा के लिए नियम, मर्यादा अथवा बन्धन अत्यन्त आवश्यक हैं। मनुष्य ने समझा कि बगैर अनुशासन के राष्ट्र, देश, प्रदेश, नगर परिवार और व्यक्ति उन्नति करने योग्य नहीं रहता। ऐसे ही अपने भारत में वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म का निर्माण हुआ और अपने-अपने देश में सबही जगह अपने रहन-सहन, चाल-चलन, खान-पान, पहराव-ओढ़ाव, परस्पर व्यवहार, रीति-रस्म बनता चला गया। और जीवन स्रोत की साधनाओं की सहस्र धारायें फूट निकलीं और एक से एक बढ़कर आश्चर्यजनक चीजें आविष्कृत हुईं। जैसे-जैसे मानव विज्ञान की ओर बढ़ने लगा वैसे-वैसे उसने अपने कार्य में सुविधा और सुख प्राप्त करने की वस्तुएँ निकालीं। मनुष्य ने कागज बनाना, छपाई करना शुरू किया, नल से घर-घर पानी पहुँचाया, भाप से रेल जहाज चलाये, साइकिल, मोटर, हवाई जहाज, बिजली का तार, टेलीफोन बनाया, बिना तार के तार से हजारों मील दूर तक लोगों से बात करना शुरू किया, रेडियो, टेलीविजन, खुर्दबीन, कैमरा, सिनेमा, टाइपराइटर, फोनोग्राफ,

डाकघर, अस्पताल और चोड़-फाड़ के औज़ार और चश्मा बनाया । इस स्वार्थ के साथ ही वैज्ञानिकों का रुझान इस ओर भी रहा कि प्रकृति की वास्तविकता क्या है ? यदि यह स्थूल रूप है तो इसका सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप क्या है ? प्रकृति की क्रिया विधि किन नियमों पर आधारित है और प्रकृति की विविध वस्तुएँ क्यों, कैसे, किनसे बनती विकसित होती हैं और नष्ट होती हैं । इसीलिए इन सब गवेषणा के ज्ञान को विज्ञान कहा गया । कर्म पथ पर पुरुष की चेष्टाओं का अन्त नहीं । कभी होगा भी नहीं । अनजान के बीच वह सदैव पथ निर्माण करता रहा और करता रहेगा । किसी परिणाम पर पहुँच कर वह अवकाश नहीं पाता । पुरुष की प्रकृति में सृष्टिकर्त्ता ने तूलिका की अन्तिम रेखा नहीं खींची ।

इस तरह प्रकृति की विभीषिकाओं से त्रस्त, अरण्य की खन्दकों में विश्राम लेने वाला मानव आज भूमि की परत से उठकर व्योम में उड़ाने भरता है ।

“आज की दुनिया विचित्र नवीन,
प्रकृति पर है सर्वत्र विजयी पुरुष आसीन ।
है बँधे नर के करों में वारि, विद्युत, भाप,
हुक्म पर चढ़ता उतरता है पवन का ताप ।
हैं नहीं बाकी कहीं व्यवधान,
लाँघ सकता नर सरित, गिरि, सिन्धु एक समान ।”

इतना ही नहीं मनुष्य अब चन्द्रलोक और अन्य लोकों पर अपना अधिकार जमाने की कल्पना कर रहा है । एटम बमों और उद्‌जन बमों की शक्ति को इतना अधिक बढ़ा लिया है कि यदि एक बार ये महास्त्र उसके हाथ से छूटे तो मानव जाति का समूलतः सर्वनाश ही नहीं विश्व का विनाश हो जाने का भी भय है । विज्ञान की ओर बढ़ने का उद्देश्य कदाचित् यह न था कि इससे किसी प्रकार विशेष अहित हो । विज्ञान के इस मनोहर प्रांगण की मृगमरीचिका में आज का मानव अज्ञान के भयंकर मुख में विश्व को वरवस भोंके दे रहा है ।

इन दिनों सद्भाव का तो कोई मूल्य रह ही नहीं गया । मनुष्य की आश्चर्य मुग्ध होने की वृत्ति नष्ट हो गई है । विनम्र होना

इन दिनों फ़ैशन के खिलाफ़ है । अहिंसा, कायरता समझी जाती है । श्रद्धा अज्ञानजन्य विश्वास माना जाता है । परस्पर प्रेम और त्याग का कोई स्थान ही नहीं रहा । ईश्वर के समीप पहुँचने की शक्ति तथा साधन शक्ति तीव्र गति से नष्ट होती जा रही है । आदमी, आदमी का शत्रु होता जा रहा है ।

ऐसी विषम स्थिति में विश्व-शान्ति का मार्ग खोजना अत्यावश्यक है । इस विज्ञान के रास्ते पर मनुष्य जितना ही आगे बढ़ा जा रहा है उसे सोचना है कि उसके मस्तिष्क की महदाश्चर्यता, उसके इन करामातों में इतनी नहीं जितनी उसके प्रेम और शुभेच्छा और उस साधन शक्ति से युक्त होने में है, जिसके द्वारा जातीय जीवन की धारा परमात्मसत्ता के महासमुद्र से जा मिलने के लिए प्रधावित होती है ।

इसलिए इस महाविनाश से मानव जाति को बचाने के लिए हर वैज्ञानिक को यत्नशील रहना चाहिए जिससे विज्ञान तथा आध्यात्मिकता का ममन्वय हो ।